सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

आगम संस्थान ग्रन्थमाला : ११

गच्छायारपइण्णयं

(गच्छाचार-प्रकीर्णक)

(मुनि पुण्यविजय जी द्वारा संपादित मूलपाठ)

अनुवादक
डॉ० सुरेश सिसोदिया
शोधाधिकारी
आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर (राज०)

भूमिका
प्रो० सागरमल जैन
डॉ० सुरेश सिसोदिया

आगम, अहिंसा - समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर

प्रकाशकीय

अर्द्धमागधी जैन आगम साहित्य भारतीय संस्कृति और साहित्य की अमूल्य निधि है। दुर्भाग्य से इन ग्रन्थों के अनुवाद उपलब्ध न होने के कारण जनसाधारण और विद्वद्वर्ग दोनों ही इनसे अपरिचित हैं। आगम ग्रन्थों में अनेक प्रकीर्णक प्राचीन और अध्यात्मप्रद होते हुए भी अप्राप्त से रहे हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि पूज्य मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित इन प्रकीर्णक ग्रन्थों का प्रकाशन श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से हो चुका है, किन्तु अनुवाद के अभाव में जनसाधारण के लिए ये ग्राह्य नहीं बन सके। इसी कारण जैनविद्या के विद्वानों की समन्वय समिति ने अनुदित आगम ग्रन्थों और आगमिक व्याख्याओं के अनुवाद के प्रकाशन को प्राथमिकता देने का निर्णय लिया और इसी सन्दर्भ में प्रकीर्णकों के अनुवाद का कार्य आगम संस्थान को दिया गया। संस्थान द्वारा अब तक देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, महाप्रत्याख्यान, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति तथा गणिविद्या नामक छः प्रकीर्णक अनुवाद सहित प्रकाशित किये जा चुके हैं।

हमें प्रसन्नता है कि संस्थान के शोधाधिकारी डॉ० सुरेश सिसोदिया ने 'गच्छाचारपइण्णयं' का अनुवाद सम्पूर्ण किया। प्रस्तुत ग्रन्थ की सुविस्तृत एवं विचारपूर्ण भूमिका संस्थान के मानद निदेशक प्रो० सागरमल जी जैन एवं डॉ० सुरेश सिसोदिया ने लिखकर ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान की है, इस हेतु हम उनके कृतज्ञ हैं।

हम संस्थान के मार्गदर्शक प्रो० कमलचन्द जी सोगानी, मानद सहनिदेशिका डॉ० सुषमाजी सिंघवी एवं मन्त्री श्री वीरेन्द्र सिंह जी लोढा के भी आभारी हैं, जो संस्थान के विकास में हर सम्भव सहयोग एवं मार्गदर्शन दे रहे हैं। डॉ० सुभाष कोठारी भी संस्थान की प्रकीर्णक अनुवाद योजना में संलग्न हैं अतः हम उनके प्रति भी आभारी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन हेतु श्री सोहनलाल जी सिपानी ने दस हजार रुपये का अर्थ सहयोग प्रदान किया है, एतदर्थ हम उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। ग्रन्थ के सुन्दर एवं सत्वर मुद्रण के लिए हम डिवाइन प्रिन्टर्स के भी आभारी हैं।

सरदारमल कांकरिया
महामन्त्री

गुमानमल चोरड़िया
अध्यक्ष

विषयानुक्रम

विषय	गाथा क्रमांक	पृष्ठ क्रमांक
भूमिका		७–३६
मंगल और अभिधेय	१	३
उन्मार्गगामी गच्छ में रहने से हानि	२	३
सन्मार्गगामी गच्छ में रहने से लाभ	३–६	३
आचार्य-स्वरूप वर्णन अधिकार	७–४०	३–११
साधु-स्वरूप वर्णन अधिकार	४१–१०६	११–२५
साध्वी-स्वरूप वर्णन अधिकार	१०७–१३४	२७–३३
समापन	१३५–१३७	३३
गाथानुक्रमणिका		३४–३६

भूमिका

प्रत्येक धर्म परम्परा में धर्म ग्रन्थ का एक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। हिन्दुओं के लिए वेद, बौद्धों के लिए त्रिपिटक, पारसियों के लिए अवेस्ता, ईसाइयों के लिए बाइबिल और मुसलमानों के लिए कुरान का जो स्थान और महत्त्व है, वही स्थान और महत्त्व जैनों के लिए आगम साहित्य का है। यद्यपि जैन परम्परा में आगम न तो वेदों के समान अपौरुषेय माने गये हैं और न ही बाइबिल और कुरान के समान किसी पैगम्बर के माध्यम से दिया गया ईश्वर का सन्देश है, अपितु वे उन अर्हतों एवं ऋषियों की वाणी का संकलन है, जिन्होंने साधना और अपनी आध्यात्मिक विशुद्धि के द्वारा सत्य का प्रकाश पाया था। यद्यपि जैन आगम साहित्य में अंग सूत्रों के प्रवक्ता तीर्थंकरों को माना जाता है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि तीर्थंकर ही मात्र अर्थ के प्रवक्ता हैं, दूसरे शब्दों में वे चिन्तन या विचार प्रस्तुत करते हैं; जिन्हें शब्द रूप देकर ग्रंथ का निर्माण गणधर अथवा अन्य प्रबुद्ध आचार्य या स्थविर करते हैं।[1]

जैन-परम्परा हिन्दू-परम्परा के समान शब्द पर उतना बल नहीं देती है। वह शब्दों को विचार की अभिव्यक्ति का मात्र एक माध्यम मानती है। उसकी दृष्टि में शब्द नहीं, अर्थ (तात्पर्य) ही प्रधान है। शब्दों पर अधिक बल न देने के कारण ही जैन-परम्परा के आगम ग्रंथों में यथाकाल भाषिक परिवर्तन होते रहे और वे वेदों के समान शब्द रूप में अक्षुण्ण नहीं रह सके। यही कारण है कि आगे चलकर जैन आगम साहित्य-अर्द्धमागधी आगम साहित्य और शौरसेनी आगम साहित्य ऐसी दो शाखाओं में विभक्त हो गया। इनमें अर्द्धमागधी आगम साहित्य न केवल प्राचीन है, अपितु वह महावीर की मूलवाणी के निकट भी है। शौरसेनी आगम-साहित्य का विकास भी अर्द्धमागधी आगम साहित्य के प्राचीन स्तर के इन्हीं आगम ग्रंथों के आधार पर हुआ है। अतः अर्द्धमागधी आगम-साहित्य शौरसेनी आगम-साहित्य का आधार एवं उसकी अपेक्षा प्राचीन भी है। यद्यपि यह अर्द्धमागधी

---

१. "अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा"—आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ९२।

आगम-साहित्य महावीर के काल से लेकर वीर निर्वाण संवत् ९८० या ९९३ की वलभी की वाचना तक लगभग एक हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में अनेक बार संकलित और सम्पादित होता रहा है। अतः इस अवधि में उसमें कुछ संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन भी हुआ है और उसका कुछ अंश काल कवलित भी हो गया है।

प्राचीन काल में यह अर्द्धमागधी आगम-साहित्य अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ऐसे दो विभागों में विभाजित किया जाता था। अंगप्रविष्ट में ग्यारह अंग आगमों और बारहवें दृष्टिवाद को समाहित किया जाता था। जबकि अंगबाह्य में इनके अतिरिक्त वे सभी आगम ग्रंथ समाहित किये जाते थे, जो श्रुतकेवली एवं पूर्वधर स्थविरों द्वारा रचित माने जाते थे। पुनः अंगबाह्य आगम-साहित्य को नन्दीसूत्र में आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त ऐसे दो भागों में विभाजित किया गया है। आवश्यक व्यतिरिक्त के भी पुनः कालिक और उत्कालिक ऐसे दो विभाग किये गये हैं। नन्दीसूत्र का यह वर्गीकरण निम्नानुसार है—

श्रुत (आगम)[1]

- अंगप्रविष्ट
  - आचारांग
  - सूत्रकृतांग
  - स्थानाङ्ग
  - समवायाङ्ग
  - व्याख्याप्रज्ञप्ति
  - ज्ञाताधर्मकथा
  - उपासकदशांग
  - अन्तकृतदशांग
  - अनुत्तरौपपातिकदशांग
  - प्रश्नव्याकरण
  - विपाकसूत्र
  - दृष्टिवाद
- अंगबाह्य
  - आवश्यक
    - सामायिक
    - चतुर्विंशतिस्तव
    - वन्दना
    - प्रतिक्रमण
    - कायोत्सर्ग
    - प्रत्याख्यान
  - आवश्यक व्यतिरिक्त
    - *

1. नन्दीसूत्र —सं० मुनि मधुकर, सूत्र ७३, ७९-८१।

*

कालिक	उत्कालिक
उत्तराध्ययन	दशवैकालिक
दशाश्रुतस्कन्ध	कल्पिकाकल्पिक
कल्प	चुल्लकल्पश्रुत
व्यवहार	महाकल्पश्रुत
निशीथ	औपपातिक
महानिशीथ	राजप्रश्नीय
ऋषिभाषित	जीवाभिगम
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	प्रज्ञापना
द्वीपसागरप्रज्ञप्ति	महाप्रज्ञापना
चन्द्रप्रज्ञप्ति	प्रमादाप्रमाद
क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति	नन्दीसूत्र
महल्लिकाविमानप्रविभक्ति	अनुयोगद्वार
अंगचूलिका	
वग्गचूलिका	देवेन्द्रस्तव
विवाहचूलिका	तंदुलवैचारिक
अरुणोपपात	चन्द्रवेध्यक
वरुणोपपात	सूर्यप्रज्ञप्ति
गरुडोपपात	पौरुषीमंडल
धरणोपपात	मण्डलप्रवेश
वैश्रमणोपपात	विद्याचरण विनिश्चय
वेलन्धरोपपात	गणिविद्या
देवेन्द्रोपपात	ध्यानविभक्ति
उत्थानश्रुत	मरणविभक्ति
समुत्थानश्रुत	आत्मविशोधि
नागपरिज्ञापनिका	वीतरागश्रुत
निरयावलिका	संलेखणाश्रुत
कल्पिका	विहारकल्प
कल्पावतंसिका	चरणविधि
पुष्पिका	आतुरप्रत्याख्यान
पुष्पचूलिका	महाप्रत्याख्यान
वृष्णिदशा	

नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में मिलने वाले उपरोक्त वर्गीकरण में उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान-- ये सात नाम तथा कालिक सूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति--ये दो नाम, अर्थात् वहाँ कुल नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है[1]। किन्तु उपरोक्त वर्गीकरण में गच्छायारपइण्णयं (गच्छाचार-प्रकीर्णक) का कहीं भी उल्लेख नहीं है। तत्त्वार्थभाष्य और दिगम्बर परम्परा की तत्त्वार्थ की टीका सर्वार्थसिद्धि में जहाँ अंगबाह्य चौदह ग्रन्थों का उल्लेख है, उनमें भी गच्छाचार का उल्लेख नहीं हुआ है। इसी प्रकार यापनीय परम्परा के ग्रन्थों मूलाचार, भगवती आराधना आदि में यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार, बृहत्कल्प, जीतकल्प और निशीथसूत्र आदि ग्रन्थों के उल्लेख तो मिलते हैं, किन्तु उनमें भी कहीं भी गच्छाचार प्रकीर्णक का उल्लेख नहीं मिलता है।

गच्छाचार प्रकीर्णक का सर्वप्रथम उल्लेख हमें विधिमार्गप्रपा (जिनप्रभ, १४वीं शताब्दी) में उपलब्ध होता है। उसमें प्रकीर्णकों में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, मरणसमाधि, महाप्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान, संस्तारक, चन्द्रवेध्यक, भक्तपरिज्ञा, चतुःशरण, वीरस्तव, गणिविद्या, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, संग्रहणी और सबसे अन्त में गच्छाचार का उल्लेख हुआ है[2]। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विधिमार्गप्रपा में 'द्वीपसागरप्रज्ञप्ति' और 'संग्रहणी' को भिन्न-भिन्न प्रकीर्णक बतलाया गया है, जबकि द्वीपसागरप्रज्ञप्ति का नामोल्लेख द्वीपसागरप्रज्ञप्ति संग्रहणी गाथा (दीवसागरपण्णत्ति संगहणी गाहाओ) रूप में मिलता है। हमारी दृष्टि में विधिमार्गप्रपा में सम्पादक की असावधानी से यह

---

१. (क) नन्दीसूत्र सम्पा० मुनि मधुकर, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; ई० सन् १९८२, पृष्ठ १६१—१६२।

(ख) पाक्षिकसूत्र प्रका० देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, पृष्ठ ७६।

२. देविंदत्थयं-तंदुलवेयालिय-मरणसमाहि--महापच्चक्खाण-आउरपच्चक्खाण-संथारय-चंदाविज्झय-चउसरण-वीरत्थय-गणिविज्जा-दीवसागरपण्णत्ति-संगहणी-गच्छायारं=इच्चाइपइण्णगाणि इक्किक्केण निव्विएण वच्चंति।

—विधिमार्गप्रपा, सम्पा० जिनविजय, पृष्ठ ५७—५८

गलती हुई है। वस्तुतः 'द्वीपसागरप्रज्ञप्ति' और 'संग्रहणी' ये दो भिन्न प्रकीर्णक नहीं होकर एक ही प्रकीर्णक हैं।

विधिमार्गप्रपा में आगम ग्रन्थों के अध्ययन की जो विधि प्रज्ञप्त की गई है उसमें गच्छाचार के पश्चात् महानिशीथ के अध्ययन का उल्लेख है[1]। विधिमार्गप्रपा में गच्छाचार का उल्लेख होना यह सिद्ध करता है कि उसे १४वीं शती में एक प्रकीर्णक के रूप में मान्यता प्राप्त थी।

सामान्यतया प्रकीर्णकों का अर्थ विविध विषयों पर संकलित ग्रन्थ ही किया जाता है। नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि के अनुसार तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते थे। परम्परागत मान्यता है कि प्रत्येक श्रमण एक-एक प्रकीर्णक की रचना करता था। समवायांगसूत्रमें "चोरासीइं पइण्णग सहस्साइं" कहकर ऋषभदेव के चौरासी हजार प्रकीर्णकों की ओर संकेत किया गया है[2]। आज यद्यपि प्रकीर्णकों की संख्या निश्चित नहीं है, किन्तु वर्तमान में ४५ आगमों में दस प्रकीर्णक माने जाते हैं। ये दस प्रकीर्णक निम्नलिखित हैं—

(१) चतुःशरण, (२) आतुरप्रत्याख्यान, (३) महाप्रत्याख्यान, (४) भक्तपरिज्ञा, (५) तन्दुल वैचारिक, (६) संस्तारक, (७) गच्छाचार, (८) गणिविद्या, (९) देवेन्द्रस्तव और (१०) मरणसमाधि[3]।

इन दस प्रकीर्णकों के नामों में भी भिन्नता देखी जा सकती है। कुछ ग्रन्थों में गच्छाचार और मरणसमाधि के स्थान पर चन्द्रवेध्यक

---

१. विधिमार्गप्रपा, पृष्ठ ५८।

२. समवायांगसूत्र–सम्पा० मुनि मधुकर, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति-ब्यावर; प्रथम संस्करण १९८२, ८४ वां समवाय, पृष्ठ १४३।

३. (क) प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, ले० डॉ० जगदीश चन्द्र जैन; पृष्ठ १९७।

(ख) जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, ले० देवेन्द्रमुनि शास्त्री; पृष्ठ ३८८।

(ग) आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, ले० मुनि नगराज, पृष्ठ ४८६।

और वीरस्तव को गिना गया है[१]। कहीं भक्तपरिज्ञा को नहीं गिनकर चन्द्रवेध्यक को गिना गया है[२]। इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं यथा—"आउरपच्चक्खाण (आतुर प्रत्याख्यान) के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

दस प्रकीर्णकों को श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय आगमों की श्रेणी में मानता है। मुनि श्री पुण्यविजय जी के अनुसार प्रकीर्णक नाम से अभिहित इन ग्रन्थों का संग्रह किया जाय तो निम्न बाईस नाम प्राप्त होते हैं—

(१) चतुःशरण, (२) आतुरप्रत्याख्यान, (३) भक्तपरिज्ञा, (४) संस्तारक, (५) तंदुलवैचारिक, (६) चन्द्रवेध्यक, (७) देवेन्द्रस्तव, (८) गणिविद्या, (९) महाप्रत्याख्यान, (१०) वीरस्तव, (११) ऋषिभाषित, (१२) अजीवकल्प, (१३) गच्छाचार, (१४) मरणसमाधि, (१५) तीर्थोद्गालिक, (१६) आराधनापताका, (१७) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, (१८) ज्योतिष्करण्डक, (१९) अंगविद्या, (२०) सिद्धप्राभृत, (२१) सारावली और (२२) जीव विभक्ति[३]।

इस प्रकार मुनि श्री पुण्यविजय जी ने बाईस प्रकीर्णकों में गच्छाचार का भी उल्लेख किया है। आचार्य जिनप्रभ के दूसरे ग्रन्थ सिद्धान्तागमस्तव की विशालराजकृत वृत्ति में भी गच्छाचार का स्पष्ट उल्लेख मिलता है[४]। इस प्रकार जहाँ नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र की सूचियों में गच्छाचार का उल्लेख नहीं है वहाँ आचार्य जिनप्रभ की सूचियों में गच्छाचार का स्पष्ट उल्लेख है। इसका तात्पर्य

---

१. पइण्णयसुत्ताइं सम्पा० मुनि पुण्यविजय, प्रका० श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई; भाग १, प्रथम संस्करण १९८४, प्रस्तावना पृष्ठ २०

२. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ५, पृष्ठ ४१

३. पइण्णयसुत्ताइं, भाग १, प्रस्तावना पृष्ठ १८।

४. वन्दे मरणसमाधिं प्रत्याख्याने 'महा'-ऽऽतुरोपपदे।
संस्तार-चन्द्रवेध्यक-भक्तपरिज्ञा-चतुःशरणम् ॥३२॥
वीरस्तव-देवेन्द्रस्तव-गच्छाचारमपि च गणिविद्याम्।
द्वीपाब्धिप्रज्ञप्तिं तण्डुलवैतालिकं च नमुः ॥३३॥
उद्धृत—H. R. Kapadia, The Canonical Literature of the Jains—p. 51.

यह है कि गच्छाचार नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र के परवर्ती किन्तु विधिमार्गप्रपा से पूर्ववर्ती है।

गच्छाचार प्रकीर्णक—

गच्छाचार प्रकीर्णक प्राकृत भाषा में निबद्ध एक पद्यात्मक रचना है। 'गच्छाचार' शब्द 'गच्छ' और 'आचार'—इन दो शब्दों से मिलकर बना है। प्रस्तुत प्रकीर्णक के संबंध में विचार करने के लिए हमें 'गच्छ' शब्द के इतिहास पर भी कुछ विचार करना होगा। यद्यपि वर्तमान काल में जैन सम्प्रदायों के मुनि संघों का वर्गीकरण गच्छों के आधार पर होता है जैसे -खरतरगच्छ, तपागच्छ, पायचन्दगच्छ आदि। किन्तु गच्छों के रूप में वर्गीकरण की यह शैली अति प्राचीन नहीं है। प्राचीनकाल में हमें निर्ग्रन्थ संघों के विभिन्न गणों में विभाजित होने की सूचना मिलती है।

समवायांगसूत्र में महावीर के मुनि संघ के निम्न नौ गणों का उल्लेख मिलता है—(१) गोदासगण, (२) उत्तरबलिस्सहगण, (३) उद्देहगण, (४) चारणगण, (५) उद्दकाइयगण, (६) विस्सवाइयगण, (७) कामर्धिकगण, (८) मानवगण और (९) कोटिकगण[1]।

कल्पसूत्र स्थविरावली में इन गणों का उल्लेख ही नहीं है वरन् ये गण आगे चलकर शाखाओं एवं कुलों आदि में किस प्रकार विभक्त हुए, यह भी उल्लिखित है[2]। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य यशोभद्र के शिष्य आर्य भद्रबाहु के चार शिष्य हुए, उनमें से आर्य गोदास से गोदासगण निकला। उस गोदासगण की चार शाखाएँ हुई—(१) ताम्रलिप्तिका, (२) कोटिवर्षिका, (३) पौण्ड्रवर्द्धनिका और (४) दासी खर्बटिका। आर्य यशोभद्र के दूसरे शिष्य सम्भूतिविजय के बारह शिष्य हुए, उनमें से आर्य स्थूलिभद्र के दो शिष्य हुए—(१) आर्य महागिरि और (२) आर्य सुहस्ति। आर्य महागिरि के स्थविर उत्तरबलिस्सह आदि आठ शिष्य हुए, इनमें स्थविर उत्तरबलिस्सह से उत्तरबलिस्सहगण निकला। इस उत्तरबलिस्सह गण की भी चार

---

१. समवायांगसूत्र—सम्पा० मुनि मधुकर, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; प्रथम संस्करण, ई० सन् १९८१, सूत्र ९/२९।

२. कल्पसूत्र, अनु० आर्या सज्जन श्री जी म०, प्रका० श्री जैन साहित्य समिति, कलकत्ता; पृष्ठ ३३४–३४५।

शाखाएँ हुईं--(१) कोशाम्बिका, (२) सूक्तमुक्तिका, (३) कौटुम्बिका और (४) चन्द्रनागरी।

आर्य सुहस्ति के आर्य रोहण आदि बारह शिष्य हुए, उनमें काश्यप-गोत्रीय आर्य रोहण से 'उद्देह' नामक गण हुआ। उस गण की भी चार शाखाएँ हुईं (१ औदुम्बरिका, (२) मासपूरिका, (३, मति-पत्रिका और (४) पूर्णपत्रिका। उद्देहगण की उपरोक्त चार शाखाओं के अतिरिक्त छः कुल भी हुए (१) नागभूतिक, (२) सोमभूतिक, (३) आर्द्रगच्छ, (४) हस्तलीय, (५, नन्दीय और (६) पारिहासिक।

आर्य सुहस्ति के अन्य शिष्य स्थविर श्रीगुप्त से चारणगण निकला। चारणगण की चार शाखाएँ हुईं (१) हरितमालाकारी, (२) संका-शिया, (३) गवेधुका और (४) वज्रनागरी। चारणगण की चार शाखाओं के अतिरिक्त सात कुल भी हुए - (१) वस्त्रालय, (२) प्रीति-धार्मिक, (३) हालीय, (४) पुष्पमैत्रीय, (५) मालीय, (६) आर्य चेटक और (७) कृष्णसह।

आर्य सुहस्ति के ही अन्य स्थविर भद्रयश से उडुवाटिकगण निकला, उसकी चार शाखाएँ हुईं— (१) चम्पिका, (२) भद्रिका, (३) काकंदिका और (४) मेखलिका। उडुवाटिकगण की चार शाखाओं के अतिरिक्त तीन कुल हुए--(१) भद्रयशस्क, (२) भद्रगुप्तिक और (३) यशोभद्रिक।

आर्य सुहस्ति के अन्य शिष्य स्थविर कामर्द्धि से वेशवाटिकगण निकला, उसकी भी चार शाखाएँ हुईं--(१) श्रावस्तिका, (२ राज्य-पालिका, (३) अन्तरिजिका और ४) क्षेमलिज्जिका। वेशवाटिकगण के कुल भी चार हुए--(१) गणिक, (२) मेघिक, (३) कामर्द्धिक और (४) इन्द्रपुरक।

आर्य सुहस्ति के ही एक अन्य शिष्य स्थविर तिष्यगुप्त से मानव-गण निकला, उसकी चार शाखाएँ हुईं--(१) काश्यपीयका, (२) गौतमीयका, (३) वशिष्टिका और सौराष्ट्रिका। मानवगण के तीन कुल भी हुए—(१) ऋषिगुप्तिय, (२) ऋषिदत्तिक और (३) अभि-जयंत। आर्य सुहस्ति के ही दो अन्य शिष्यों सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध से कोटिकगण निकला, उसकी भी चार शाखाएँ हुईं -(१) उच्चैर्नागरी, (२) विद्याधरी, (३) वज्री और (४) माध्यमिका। इस कोटिकगण के

चार कुल थे—(१) ब्रह्मलीय, (२) वस्त्रलीय, (३) वाणिज्य तथा (४) प्रश्नवाहन।

स्थविर सुस्थित एवं सुप्रतिबुद्ध के पाँच शिष्य हुए, उनमें से स्थविर प्रियग्रन्थ से कोटिकगण की मध्यमाशाखा निकली। स्थविर विद्याधर गोपाल से विद्याधरी शाखा निकली। स्थविर आर्य शान्ति श्रेणिक से उच्चनागिरी शाखा निकली। स्थविर आर्य शान्तिश्रेणिक के चार शिष्य हुए—(१) स्थविर आर्य श्रेणिक, (२) स्थविर आर्य तापस, (३) स्थविर आर्य कुबेर और (४) स्थविर आर्य ऋषिपालित। इन चारों शिष्यों से क्रमशः चार शाखाएँ निकलीं—(१) आर्य श्रेणिका, (२) आर्य तापसी, (३) आर्य कुबेरी और (४) आर्य ऋषि-पालिता।

स्थविर आर्य सिंहगिरि के चार शिष्य हुए—(१) स्थविर आर्य धनगिरि, (२) स्थविर आर्य वज्र (३) स्थविर आर्य सुमित और (४) स्थविर आर्य अर्हद्दत्त। स्थविर आर्य सुमितसूरि से ब्रह्मदीपिका तथा स्थविर आर्य वज्रस्वामी से वज्रीशाखा निकली। आर्य वज्र-स्वामी के तीन शिष्य हुए—(१) स्थविर आर्य वज्रसेन, (२) स्थविर आर्य पद्म और (३) स्थविर आर्यरथ। इन तीनों से क्रमशः तीन शाखाएँ निकलीं—(१) आर्य नागिला, (२) आर्य पद्मा और (३) आर्य जयन्ती।

इस प्रकार कल्पसूत्र स्थविरावली में मुनि संघों के विविध गणों, कुलों और शाखाओं के उल्लेख तो उपलब्ध होते हैं, किन्तु उसमें कहीं भी 'गच्छ' शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है। अर्द्धमागधी आगम साहित्य के अंग-उपांग ग्रन्थों में हमें कहीं भी 'गच्छ' शब्द का प्रयोग मुनियों के समूह के अर्थ में नहीं मिला है, अपितु उनमें सर्वत्र 'गच्छ' शब्द का प्रयोग 'गमन' अर्थ में ही हुआ है।

ईसा की पहली शताब्दी से लेकर पाँचवीं-छठीं शताब्दी तक के मथुरा आदि स्थानों के जो अभिलेख उपलब्ध होते हैं उनमें भी कहीं भी 'गच्छ' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वहाँ सर्वत्र गण, कुल, शाखा और अन्वय के ही उल्लेख पाये जाते हैं। दिगम्बर एवं यापनीय परम्परा के भी जो प्राचीन अभिलेख एवं ग्रन्थ पाये जाते हैं; उनमें भी गण, कुल, शाखा एवं अन्वय के उल्लेख ही मिलते हैं। गच्छ के उल्लेख

तो ९वीं शताब्दी के बाद के ही मिलते हैं।[1] इस आधार पर हम निश्चित रूप से इतना तो कह ही सकते हैं कि 'गच्छ' शब्द का मुनियों के समूह अर्थ में प्रयोग छठीं शताब्दी के बाद ही कभी प्रारम्भ हुआ है।

अभिलेखीय साक्ष्य की दृष्टि से प्राचीनतम अभिलेख वि० सं० १०११ अर्थात् ईस्वी सन् ९५४ का उपलब्ध होता है जिसमें 'बृहद्गच्छ' का नामोल्लेख हुआ है।[2] साहित्यिक साक्ष्य के रूप में 'गच्छ' शब्द का इस अर्थ में उल्लेख हमें सर्वप्रथम ओघनिर्युक्ति (लगभग ६ठीं–७वीं शताब्दी) में मिलता है जहाँ कहा गया है कि 'जिस प्रकार समुद्र में स्थित समुद्र की लहरों के थपेड़ों को सहन नहीं करने वाली सुखाभिलाषी मछली किनारे चली जाती है और मृत्यु प्राप्त करती है उसी प्रकार गच्छ रूपी समुद्र में स्थित सुखाभिलाषी साधक भी गुरुजनों की प्रेरणा आदि को त्याग कर गच्छ से बाहर चला जाता है तो वह अवश्य ही विनाश को प्राप्त होता है'।[3] यद्यपि ओघनिर्युक्ति का उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति में उल्लिखित दस निर्युक्तियों में नहीं है क्योंकि सामान्यतः यह माना जाता है कि ओघनिर्युक्ति आवश्यकनिर्युक्ति का ही एक विभाग है, किन्तु वर्तमान में उपलब्ध ओघनिर्युक्ति की सभी गाथायें आवश्यकनिर्युक्ति में रही हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता। हमारी दृष्टि में ओघनिर्युक्ति की अधिकांश गाथायें आवश्यक मूल भाष्य और विशेषावश्यक भाष्य के रचनाकाल के मध्य कभी निर्मित हुई हैं।

---

१. (क) जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख क्रमांक १४३

(ख) प्रतिष्ठा लेख संग्रह, लेख क्रमांक ३४, ३८, ३९, १२३, ८३३

२. "संवत् १०११ बृहद्गच्छीय श्री परमानन्दसूरि शिष्य श्री यक्षदेवसूरिभिः प्रतिष्ठितं।" — लोढ़ा दौलत सिंह : श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, लेख क्रमांक ३३१

३. जह सागरंमि मीणा संखोहं सागरस्स असहंता।
निंति तओ सुहकामी निग्गयमित्ता विणस्संति॥
एवं गच्छसमुद्दे सारणवीईहिं चोइया संता।
निंति तओ सुहकामी मीणा व जहा विणस्संति॥
—ओघनिर्युक्ति, गाथा ११६–११७

ओघनिर्युक्ति के पश्चात् 'गच्छ' का उल्लेख हमें सर्वप्रथम हरिभद्र के पंचवस्तु (८वीं शताब्दी) में मिलता है, जहाँ न केवल 'गच्छ' शब्द का प्रयोग मुनियों के समूह विशेष के लिए हुआ है, अपितु उसमें 'गच्छ' किसे कहते हैं ? यह भी स्पष्ट किया गया है। हरिभद्रसूरि के अनुसार एक गुरु के शिष्यों का समूह गच्छ कहलाता है।[1] वैसे शाब्दिक दृष्टि से 'गच्छ' शब्द का अर्थ एक साथ विहार आदि करने वाले मुनियों के समूह से किया जाता है और यह भी निश्चित है कि इस अर्थ में 'गच्छ' शब्द का प्रचलन ७वीं शताब्दी के बाद ही कभी प्रारम्भ हुआ होगा, क्योंकि इससे पूर्व का ऐसा कोई भी अभिलेखीय अथवा साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता जिसमें 'गच्छ' शब्द का प्रयोग मुनियों के समूह के लिए हुआ हो। प्राचीन काल में तो मुनि संघ के वर्गीकरण के लिए गण, शाखा, कुल और अन्वय के ही उल्लेख मिलते हैं। कल्पसूत्र स्थविरावली के अन्तिम भाग में वीर निर्वाण के लगभग ६०० वर्ष पश्चात् निवृत्तिकुल, चन्द्रकुल, विद्याधर कुल और नागेन्द्र-कुल—इन चार कुलों के उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है। इन्हीं चार कुलों से निवृत्ति गच्छ, चन्द्र गच्छ आदि गच्छ निकले। इस प्रकार प्राचीन काल में जिन्हें 'कुल' कहा जाता था वे ही आगे चलकर 'गच्छ' नाम से अभिहित किये जाने लगे। जहाँ प्राचीन समय में 'गच्छ' शब्द एक साथ विहार (गमन) करने वाले मुनियों के समूह का सूचक था वहाँ आगे चलकर वह एक गुरु की शिष्य परम्परा का सूचक बन गया। इस प्रकार शनैः शनैः 'गच्छ' शब्द ने 'कुल' का स्थान ग्रहण कर लिया। यद्यपि ८वीं-९वीं शताब्दी तक 'गण', 'शाखा' और 'कुल' शब्दों के प्रयोग प्रचलन में रहे, किन्तु धीरे-धीरे 'गच्छ' शब्द का अर्थ व्यापक हो गया और 'गण', 'शाखा' तथा 'कुल' शब्द गौण हो गये। आज भी चाहे श्वेताम्बर परम्परा के प्रतिष्ठा लेखों में 'गण', 'शाखा' और 'कुल' शब्दों का उल्लेख होता हो, किन्तु व्यवहार में तो 'गच्छ' शब्द का ही प्रचलन है।

---

१. गुरुपरिवारो गच्छो तत्थ वसंताण निज्जरा विउला ।
विणयाओ तह सारणमाईहिं न दोसपडिवत्ती ॥
—पंचवस्तु (हरिभद्रसूरि), प्रका० श्री देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, गाथा ६९६

'गच्छ' शब्द का मुनि समूह के अर्थ में प्रयोग यद्यपि ६ठीं–७वीं शताब्दी से मिलने लगता है। किन्तु स्पष्ट रूप से गच्छों का आविर्भाव १०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और ११वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही माना जा सकता है। बृहद्गच्छ, संडेरगच्छ, खरतरगच्छ आदि गच्छों का प्रादुर्भाव १०वीं-११वीं शताब्दी के लगभग ही हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में हमें मुख्य रूप से अच्छे गच्छ में निवास करने से क्या लाभ और क्या हानियाँ हैं, इसकी चर्चा के साथ-साथ अच्छे गच्छ और बुरे गच्छ के आचार की पहचान भी कराई गई है। इसमें यह बताया गया है कि जो गच्छ अपने साधु-साध्वियों के आचार एवं क्रिया-कलापों पर नियन्त्रण रखता है, वही गच्छ सुगच्छ है और ऐसा गच्छ ही साधक के निवास करने योग्य है। प्रस्तुत ग्रंथ में इस बात पर भी विस्तार से चर्चा हुई है कि अच्छे गच्छ के साधु-साध्वियों का आचार कैसा होता है? इसी चर्चा के सन्दर्भ में प्रस्तुत ग्रन्थ में शिथिलाचारी और स्वच्छन्द आचार्य की पर्याप्त रूप से समालोचना भी की गई है। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि जैन परम्परा में भगवान महावीर ने एक कठोर आचार परम्परा की व्यवस्था दी थी किन्तु कालक्रम में इस कठोर आचार व्यवस्था में शिथिलाचार और सुविधावादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ किन्तु समय-समय पर जैन आचार्यों ने इस स्वच्छन्द और सुविधावादी आचार व्यवस्था का विरोध करके आगमोक्त प्राचीन आचार व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने का प्रयत्न किया। गच्छाचार भी एक ऐसा ही ग्रन्थ है जो सुविधावादी और स्वच्छन्द आचार व्यवस्था के स्थान पर आगमोक्त आचार व्यवस्था का निरूपण करता है।

गच्छाचार प्रकीर्णक के सम्पादन में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियाँ :

हमने प्रस्तुत संस्करण का मूलपाठ मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित एवं श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित 'पइण्णयसुत्ताइं' ग्रन्थ से लिया है। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने इस ग्रन्थ के पाठ निर्धारण में निम्नलिखित प्रतियों का उपयोग किया है—

१. सा० : आचार्य श्री सागरानन्दसूरीश्वरजी द्वारा संपादित एवं वर्ष १९२७ में आगमोदय समिति, सूरत द्वारा प्रकाशित प्रति।

२. जे० : आचार्य श्री जिनभद्रसूरि जैन ज्ञान भण्डार की ताड-पत्रीय प्रति।

३. सं० : संघवीपाडा जैन ज्ञान भण्डार की उपलब्ध ताडपत्रीय प्रति।

४. पु० : मुनि श्री पुण्यविजयजी महाराज की हस्तलिखित प्रति।

५. वृ० : श्री विजयविमलगणि कृत गच्छाचार प्रकीर्णकवृत्ति, श्रीभद्राणविजयगणि द्वारा संपादित एवं वर्ष १९७९ में दयाविमल ग्रन्थमाला, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित प्रति।

इन पाण्डुलिपियों की विशेष जानकारी के लिए हम पाठकों से पइण्णयसुत्ताइं ग्रन्थ की प्रस्तावना के पृष्ठ २३-२७ देख लेने की अनुशंसा करते हैं।

गच्छाचार प्रकीर्णक के प्रकाशित संस्करण :

अर्द्धमागधी आगम साहित्य के अन्तर्गत अनेक प्राचीन एवं अध्यात्मप्रधान प्रकीर्णकों का निर्देश प्राप्त होता है, किन्तु व्यवहार में इन प्रकीर्णकों के प्रचलन में नहीं रहने के कारण अधिकांश प्रकीर्णक जनसाधारण को अनुपलब्ध ही रहे हैं और कुछ प्रकीर्णकों को छोड़कर अन्य का प्रकाशन भी नहीं हुआ है। प्रकीर्णक ग्रन्थों की विषयवस्तु विशेष महत्त्वपूर्ण है अतः विगत कुछ वर्षों से प्राकृत भाषा में निबद्ध इन ग्रन्थों का संस्कृत, गुजराती, हिन्दी आदि विविध भाषाओं में अनुवाद सहित प्रकाशन हुआ है। गच्छाचार प्रकीर्णक के उपलब्ध प्रकाशित संस्करणों का विवरण इसप्रकार है—

(१) गच्छाचार पइण्णयं आगमोदय समिति, बड़ौदा से "प्रकीर्णकदशकम्" नामक प्रकाशित इस संस्करण में गच्छाचार सहित दस प्रकीर्णकों की प्राकृत भाषा में मूल गाथाएँ एवं उनकी संस्कृत छाया दी गई है। यह संस्करण वर्ष १९२८ में प्रकाशित हुआ है।

(२) श्री गच्छाचार पयन्ना श्री गच्छाचार पयन्ना नाम से मुनि श्री विजय राजेन्द्रसूरिजी द्वारा अनुवादित दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं। प्रथम संस्करण श्री अमीरचन्दजी ताराजी दाणी, धानसा

(राज०) से वर्ष १९८५ में प्रकाशित हुआ है इसका वर्ष १९९१ में पुनः प्रकाशन हुआ है। धानसा से प्रकाशित इस संस्करण में प्राकृत गाथाओं का गुजराती भाषा में अनुवाद भी दिया गया है।

मुनि श्री विजय राजेन्द्रसूरिजी द्वारा अनुवादित द्वितीय संस्करण श्री भूपेन्द्रसूरि जैन साहित्य समिति, आहोर (मारवाड़) से वर्ष १९४६ में प्रकाशित हुआ है। उक्त संस्करण में प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया एवं गुजराती अनुवाद दिया गया है।

(३) **गच्छाचार प्रकीर्णकम्** – गच्छाचार प्रकीर्णक का यह संस्करण प्राकृत गाथाओं एवं संस्कृत वृत्ति सहित दयाविमल ग्रन्थमाला, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है।

(४) **गच्छाचार प्रकीर्णकम्** —आत्माराम जी म० सा० के शिष्य खजानचन्द जी म० सा० के प्रशिष्य मुनि श्री त्रिलोकचन्द जी द्वारा लिखित यह संस्करण रामजीदास किशोरचन्द जैन, मनासामण्डी से प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ में प्रकाशन का समय नहीं दिया गया है इसलिए यह बताना सम्भव नहीं है कि यह संस्करण कब प्रकाशित हुआ है। उक्त संस्कृत में प्राकृत भाषा में मूल गाथाएँ उसकी परिष्कृत संस्कृत छाया एवं साथ-साथ हिन्दी भाषा में भावार्थ भी दिया गया है।

(५) **गच्छाचार प्रकीर्णकम्**—मुनि श्री विजयविमलगणि द्वारा लिखित यह संस्करण वर्ष १९७५ में श्री हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, शांतिपुरी (सौराष्ट्र) से प्रकाशित हुआ है। यह संस्करण भी संस्कृत छाया के साथ प्रकाशित हुआ है।

(६) **श्रीमद् गच्छाचार प्रकीर्णकम्**— आचार्य आनन्द विमल द्वारा लिखित यह संस्करण आगमोदय समति, बड़ौदा से वर्ष १९२३ में प्रकाशित हुआ है। उक्त संस्करण में प्राकृत गाथाओं के साथ वानर्षि कृत संस्कृत वृत्ति भी दी गई है।

गच्छाचार के कर्ता

प्रकीर्णक ग्रन्थों के रचयिताओं के सन्दर्भ में मात्र देवेन्द्रस्तव को छोड़कर अन्य किसी प्रकीर्णक के रचयिता का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान और भक्तपरिज्ञा

आदि कुछ प्रकीर्णकों के रचयिता के रूप में वीरभद्र का नामोल्लेख उपलब्ध होता है[१] और जैन परम्परा में वीरभद्र को महावीर के साक्षात् शिष्य के रूप में उल्लिखित किया जाता है, किन्तु प्रकीर्णक ग्रन्थों की विषयवस्तु का अध्ययन करने से यह फलित होता है कि वे भगवान् महावीर के समकालीन नहीं हैं। एक अन्य वीरभद्र का उल्लेख वि० सं० १००८ का मिलता है[२]। सम्भवतः गच्छाचार की रचना इन्हीं वीरभद्र के द्वारा हुई हो। प्रस्तुत प्रकीर्णक में प्रारम्भ से अन्त तक किसी भी गाथा में ग्रन्थकर्ता ने अपना नामोल्लेख नहीं किया है। ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता के नामोल्लेख के अभाव का वास्तविक कारण क्या रहा है? इस सन्दर्भ में निश्चय पूर्वक भले ही कुछ नहीं कहा जा सकता हो, किन्तु एक तो ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह कहकर कि श्रुत समुद्र में से इस गच्छाचार को समुद्धृत किया गया है, अपने को इस संकलित ग्रन्थ के कर्ता के रूप में उल्लिखित करना उचित नहीं माना हो, दूसरे ग्रन्थ की गाथा १३५ में भी ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि महानिशीथ, कल्प और व्यवहार सूत्र से इस ग्रन्थ की रचना की गई है। हमारी दृष्टि से इस अज्ञात ग्रन्थकर्ता के मन में यह भावना अवश्य रही होगी कि प्रस्तुत ग्रन्थ की विषयवस्तु तो मुनि, पूर्व आचार्यों अथवा उनके ग्रन्थों से प्राप्त हुई है, इस स्थिति में मैं इस ग्रन्थ का कर्ता कैसे हो सकता हूँ? वस्तुतः प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों के समान ही इस ग्रन्थ के कर्ता ने भी अपना नामोल्लेख नहीं किया है। इससे जहाँ एक ओर उसकी विनम्रता प्रकट होती है वहीं दूसरी ओर यह भी सिद्ध होता है कि यह एक प्राचीन स्तर का ग्रन्थ है।

ग्रन्थकर्ता के रूप में हमने पूर्व में जिन वीरभद्र का उल्लेख किया है वह सम्भावना मात्र है इस सन्दर्भ में निश्चयपूर्वक कुछ कहना दुराग्रह होगा।

गच्छाचार का रचनाकाल —

नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में आगमों का जो वर्गीकरण किया गया है उसमें गच्छाचार प्रकीर्णक का कोई उल्लेख नहीं है। तत्त्वार्थभाष्य

१. The Canonical Literature of the Jainas, pp. 51–52

२. Ibid., p. 52.

और दिगम्बर परम्परा की सर्वार्थसिद्धि टीका में भी गच्छाचार प्रकीर्णक का कहीं कोई उल्लेख नहीं हुआ है। इसी प्रकार यापनीय परम्परा के ग्रन्थों में भी कहीं भी गच्छाचार प्रकीर्णक का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। इससे यही फलित होता है कि ६ठीं शताब्दी से पूर्व इस ग्रन्थ का कोई अस्तित्व नहीं था। गच्छाचार प्रकीर्णक का सर्वप्रथम उल्लेख विधिमार्गप्रपा में मिलता है जहाँ चौदह प्रकीर्णकों में गच्छाचार को अन्तिम प्रकीर्णक गिना गया है[1]। इसका तात्पर्य यह है कि गच्छाचार प्रकीर्णक नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र से परवर्ती अर्थात् ६ठीं शताब्दी के पश्चात् तथा विधिमार्गप्रपा अर्थात् १४वीं शताब्दी से पूर्व अस्तित्व में आ चुका था। गच्छाचार प्रकीर्णक के रचयिता ने जिस प्रकार ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता के रूप में कहीं भी अपना नामोल्लेख नहीं किया है उसी प्रकार इस ग्रन्थ के रचनाकाल के सन्दर्भ में भी उसने ग्रन्थ में कोई संकेत नहीं दिया है। किन्तु ग्रन्थ की १३५वीं गथा में ग्रन्थकार का यह कहना कि इस ग्रन्थ की रचना महानिशीथ, कल्प और व्यवहारसूत्र के आधार पर की गई है[2] इस अनुमान को बल देता है कि गच्छाचार की रचना महानिशीथ के पश्चात् ही कभी हुई है।

महानिशीथ का उल्लेख नन्दीसूत्र की सूची में मिलता है[3]। इससे यह फलित होता है कि महानिशीथ ६ठीं शताब्दी पूर्व का ग्रन्थ है किन्तु महानिशीथ की उपलब्ध प्रतियों में यह भी स्पष्ट उल्लिखित है कि महानिशीथ की प्रति के दीमकों द्वारा भक्षित हो जाने पर उसका उद्धार आचार्य हरिभद्रसूरि ने ८वीं शताब्दी में किया था[4]। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महानिशीथ ग्रन्थ भले ही ६ठीं शताब्दी से पूर्व अस्तित्व में रहा हो, किन्तु उसके वर्तमान स्वरूप का निर्धारण तो आचार्य हरिभद्र की ही देन है। इससे यही प्रति-

---

१. विधिमार्गप्रपा, पृष्ठ ५७–५८।

२. "महानिसीह – कप्पाओ ववहाराओ तहेव य।
साहु-साहुणिअट्ठाए गच्छायारं समुद्धियं ॥"

– गच्छाचार प्रकीर्णक, गाथा १३५

३. नन्दीसूत्र—सम्पा० मुनि मधुकर, सूत्र ७६, ७९–८१

४. उद्धृत—जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग २, पृष्ठ २९१–२९२

फलित होता है कि गच्छाचार के प्रणेता के समक्ष महानिशीथसूत्र अपने वर्तमान स्वरूप में उपलब्ध था। इस आधार पर गच्छाचार की रचना ८वीं शताब्दी के पश्चात् तथा १३वीं शताब्दी से पूर्व ही कभी हुई है ऐसा मानना चाहिए। हरिभद्रसूरि द्वारा आगम ग्रन्थों के उल्लेख में कहीं भी गच्छाचार का उल्लेख नहीं किये जाने से भी यही फलित होता है कि गच्छाचार की रचना हरिभद्रसूरि (८वीं शताब्दी) के पश्चात् ही कभी हुई है।

हम पूर्व में ही यह उल्लेख कर चुके हैं कि गच्छाचार में 'गच्छ' शब्द का मुनि संघ हेतु जो प्रयोग हुआ है, वह प्रयोग भी ८वीं शताब्दी के बाद ही अस्तित्व में आया है। लगभग ८वीं शताब्दी से चन्द्रकुल, विद्याधर कुल, नागेन्द्र कुल और निवृत्तिकुल से नन्द गच्छ, विद्याधर गच्छ आदि 'गच्छ' नाम से अभिहित होने लगे थे। इतना तो निश्चित है कि गच्छों के अस्तित्व में आने के बाद ही गच्छाचार प्रकीर्णक की रचना हुई होगी। अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों से मुनिसंघ के रूप में 'गच्छ' शब्द का प्रयोग ८वीं शताब्दी के पूर्व नहीं मिलता। अतः गच्छाचार-प्रकीर्णक किसी भी स्थिति में ८वीं शताब्दी के पूर्व की रचना नहीं है। पुनः गच्छाचार प्रकीर्णक में स्वच्छन्द और सुविधावादी गच्छों की स्पष्ट रूप से समालोचना की गई है। यह सुविदित है कि निर्ग्रन्थ संघ में स्वच्छन्द और सुविधावादी प्रवृत्तियों का विकास चैत्य-वास के प्रारंभ के साथ लगभग चौथी शताब्दी में हुआ जिसका विरोध सर्वप्रथम छठीं शताब्दी में दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ सूत्रपाहुड, बोधपाहुड एवं लिंगपाहुड आदि में किया।[1] श्वेताम्बर परम्परा में शिथिलाचारी और स्वच्छन्दाचारी प्रवृत्तियों का विरोध लगभग ८वीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थ संबोधप्रकरण में किया है।[2] संबोधप्रकरण और गच्छाचार प्रकीर्णक में अनेक गाथाएँ समान रूप से पाई जाती हैं इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन दोनों ग्रन्थों का रचनाकाल समसामयिक

---

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य है— (क) सूत्रपाहुड, गाथा ९–१५ ।
(ख) बोधपाहुड, गाथा १७–२०, ४५–६० ।
(ग) लिंगपाहुड, गाथा १–२० ।

२. संबोधप्रकरण, कुगुरु अध्याय, गाथा ४०–५० ।

होना चाहिए। यद्यपि इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि संबोधप्रकरण और गच्छाचार में समान रूप से उपलब्ध गाथाएँ गच्छाचार में संबोधप्रकरण से ली गई हैं। यदि हम यह मानते हैं तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि गच्छाचार संबोध प्रकरण से परवर्ती है। श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्रसूरि के पश्चात् स्वच्छन्द और शिथिलाचारी प्रवृत्तियों का विरोध खरतरगच्छ के संस्थापक आचार्य जिनेश्वरसूरि के द्वारा भी किया गया, उनका काल लगभग १०वीं शताब्दी का है। अतः यह भी संभव है कि गच्छाचार की रचना १०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा ११वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कभी हुई हो। पुनः यदि हम गच्छाचार के रचयिता आचार्य वीरभद्र को मानते हैं तो उनका काल ईस्वी सन् की १०वीं शताब्दी निश्चित होता है। ऐसी स्थिति में गच्छाचार का रचनाकाल भी ईस्वी सन् की १०वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध होना चाहिये, किन्तु वीरभद्र गच्छाचार के रचयिता हैं, यह स्पष्ट उल्लेख नहीं है। अतः गच्छाचार का रचनाकाल ८वीं शताब्दी से १०वीं शताब्दी के मध्य ही कभी माना जा सकता है।

विषयवस्तु--

गच्छाचार प्रकीर्णक में कुल १३७ गाथायें हैं। ये सभी गाथायें गच्छ, आचार्य एवं साधु-साध्वियों के आचार का विवेचन प्रस्तुत करती हैं। इस ग्रन्थ में निम्नलिखित विवरण उपलब्ध होता है—

सर्वप्रथम लेखक मंगलाचरण के रूप में त्रिदशेन्द्र (देवपति) भी जिसे नमन करते हों, ऐसे महाभाग महावीर को नमस्कार करके गच्छाचार का वर्णन करना प्रारम्भ करता है (१)।

ग्रन्थ में सन्मार्गगामी गच्छ में रहने को ही श्रेष्ठ मानते हुए कहा गया है कि उन्मार्गगामी गच्छ में रहने के कारण कई जीव संसारचक्र में घूम रहे हैं (२)।

सन्मार्गगामी गच्छ में रहने का लाभ यह है कि यदि किसी को आलस्य अथवा अहंकार आ जाए, उसका उत्साह भंग हो जाए अथवा मन खिन्न हो जाए तो भी वह गच्छ के अन्य साधुओं को देखकर तप आदि क्रियाओं में घोर पुरुषार्थ करने लग जाता है जिसके परिणाम स्वरूप उसकी आत्मा में वीरत्व का संचार हो जाता है (३-६)।

आचार्य स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है कि आचार्य गच्छ का आधार है, वह सभी को हित-अहित का ज्ञान कराने वाला होता है तथा सभी को संसारचक्र से मुक्त कराने वाला होता है इसलिए आचार्य की सर्वप्रथम परीक्षा करनी चाहिए (७-८)।

ग्रन्थ में स्वच्छंदाचारी दुष्ट स्वभाव वाले, जीव हिंसा में प्रवृत्त रहने वाले, शय्या आदि में आसक्त रहने वाले, अप्काय की हिंसा करने वाले, मूल-उत्तर गुणों से भ्रष्ट, समाचारी का उल्लंघन करने वाले, विकथा कहने वाले तथा आलोचना आदि नहीं करने वाले आचार्य को उन्मार्गगामी कहा गया है और जो आचार्य अपने दोषों को अन्य आचार्यों को बताकर उनके निर्देशानुसार आलोचनादि करके अपनी शुद्धि करते हैं उन्हें सन्मार्गगामी आचार्य कहा गया है (९-१३)।

ग्रन्थ में कहा गया है कि आचार्य को चाहिए कि वह आगमों का चिन्तन, मनन करते हुए देश, काल और परिस्थिति को जानकर साधुओं के लिए वस्त्र, पात्र आदि संयमोपकरण ग्रहण करे। जो आचार्य वस्त्र, पात्र आदि को विधिपूर्वक ग्रहण नहीं करते, उन्हें शत्रु कहा गया है (१४-१५)। ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि जो आचार्य साधु-साध्वियों को दीक्षा तो दे देते हैं किन्तु उनसे समाचारी का पालन नहीं करवाते, नवदीक्षित साधु-साध्वियों को लाड़-प्यार से रखते हैं किन्तु उन्हें सन्मार्ग पर स्थित नहीं करते, वे आचार्य शत्रु हैं। इसी प्रकार मीठे-मीठे वचन बोलकर भी जो आचार्य शिष्यों को हित-शिक्षा नहीं देते हों, वे शिष्यों के हित-साधक नहीं हैं। इसके विपरीत दण्डे से पीटते हुए भी जो आचार्य शिष्यों के हित-साधक हों, उन्हें कल्याणकर्ता माना गया है (१६-१७)।

शिष्य का गुरु के प्रति दायित्व निरूपण करते हुए कहा गया है कि यदि गुरु किसी समय प्रमाद के वशीभूत हो जाए और समाचारी का विधिपूर्वक पालन नहीं करे तो जो शिष्य ऐसे समय में अपने गुरु को सचेत नहीं करता, वह शिष्य भी अपने गुरु का शत्रु है (१८)।

जिनवाणी का सार ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना में बतलाया गया है तथा चारित्र की रक्षा के लिए भोजन, उपधि तथा शय्या आदि के उद्गम, उत्पादन और एषणा आदि दोषों को शुद्ध करने वाले को चारित्रवान आचार्य कहा गया है, किन्तु जो सुखाकांक्षी

हो, विहार में शिथिलता वर्तता हो तथा कुल, ग्राम, नगर और राज्य आदि का त्याग करके भी उनके प्रति ममत्व भाव रखता हो, संयम बल से रहित उस अज्ञानी को मुनि नहीं अपितु केवल वेशधारी कहा गया है। (२०–२४)।

ग्रन्थ में शास्त्रोक्त मर्यादापूर्वक प्रेरणा देने वाले, जिन उपदिष्ट अनुष्ठान को यथार्थ रूप से बतलाने वाले तथा जिनमत को सम्यक् प्रकार से प्रसारित करने वाले आचार्यों को तीर्थङ्कर के समान आदरणीय माना गया है तथा जिन वचन का उल्लंघन करने वाले आचार्यों को कायर पुरुष कहा गया है। (२५–२७)।

ग्रन्थके अनुसार तीन प्रकार के आचार्य जिन मार्ग को दूषित करते हैं—

(१) वे आचार्य जो स्वयं भ्रष्ट हों।

(२) वे आचार्य जो स्वयं भले ही भ्रष्ट नहीं हों किन्तु दूसरों के भ्रष्ट आचरण की उपेक्षा करने वाले हों तथा

(३) वे आचार्य जो जिन भगवान की आज्ञा के विपरीत आचरण करने वाले हों।

ग्रन्थ में उन्मार्गगामी और सन्मार्गगामी आचार्य का विवेचन करते हुए कहा गया है कि सन्मार्ग का नाश करने वाले तथा उन्मार्ग पर प्रस्थित आचार्य का संसार परिभ्रमण अनन्त होता है। ऐसे आचार्यों की सेवा करने वाला शिष्य अपनी आत्मा को संसार समुद्र में गिराता है। (२९–३१)।

किन्तु जो साधक आत्मा सन्मार्ग में आरूढ़ है उनके प्रति वात्सल्य भाव रखना चाहिए तथा औषध आदि से उनकी सेवा स्वयं तो करनी ही चाहिए और दूसरों से भी करवानी चाहिए (३५)।

प्रस्तुत ग्रन्थ में लोकहित करने वाले महापुरुषों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि ऐसे कई महापुरुष भूतकाल में हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे जो अपना सम्पूर्ण जीवन अपने एकमात्र लक्ष्य लोकहित हेतु व्यतीत करते हैं, ऐसे महापुरुषों के चरणयुगल में तीनों लोकों के प्राणी नतमस्तक होते हैं (३६)।

आगे की गाथा में यह भी विवेचन है कि ऐसे महापुरुषों के व्यक्तित्व का स्मरण करने मात्र से पापकर्मों का प्रायश्चित हो जाता है (३७)

ग्रन्थ में शिष्य के लिए गुरु का भय सदैव अपेक्षित मानते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार संसार में नौकर एवं अश्व आदि वाहन अपने स्वामी की सम्यक् देखभाल या नियन्त्रण के अभाव में स्वच्छंद हो जाते हैं उसी प्रकार प्रतिप्रश्न, प्रायश्चित तथा प्रेरणा आदि के अभाव में शिष्य भी स्वच्छंद हो जाते हैं इसलिए शिष्य को सदैव गुरु का भय रहना चाहिए (३८)।

ग्रन्थ में साधुओं के प्रत्येक गच्छ को गच्छ नहीं माना गया है वरन् शास्त्रों का सम्यक् अर्थ रखने वाले, संसार से मुक्त होने की इच्छा वाले, आलस्य रहित, व्रतों का दृढ़तापूर्वक पालन करने वाले, सदैव अस्खलित चारित्र वाले और राग-द्वेष से रहित रहने वाले साधुओं के गच्छ को ही वास्तव में गच्छ माना गया है (३९)।

साधु स्वरूप का निरूपण करते हुए ग्रन्थ में कहा गया है कि गीतार्थ के वचन भले ही हलाहल विष के समान प्रतीत होते हों तो भी उन्हें बिना संकोच के स्वीकार करना चाहिए क्योंकि वे वचन विष नहीं, अपितु अमृत तुल्य होते हैं। ऐसे वचनों से एक तो किसी का मरण होता नहीं है और कदाचित् कोई उनसे मर भी जाय तो वह मरकर भी अमर हो जाता है। इसके विपरीत अगीतार्थ के वचन भले ही अमृत तुल्य प्रतीत होते हों तो भी उन्हें स्वीकर नहीं करना चाहिए। वस्तुतः वे वचन अमृत नहीं, हलाहल विष की तरह हैं जिससे जीव तत्काल मृत्यु को प्राप्त होता है और वह कभी भी जन्म-मरण से रहित नहीं हो पाता। (४४–४७) अतः अगीतार्थ और दुराचारी की संगति का त्रिविध रूप से परित्याग करना चाहिए तथा उन्हें मोक्षमार्ग में चोर एवं लुटेरों की तरह बाधक समझना चाहिए (४८–४९)।

ग्रन्थ के अनुसार सुविनीत शिष्य गुरुजनों की आज्ञा का विनयपूर्वक पालन करता है, और धैर्यपूर्वक परिषहों को जीतता है। वह अभिमान, लोभ, गर्व और विवाद आदि नहीं करता है; वह क्षमाशील होता है, इन्द्रियजयी होता है। स्व-पर का रक्षक होता है, वैराग्यमार्ग में लीन रहता है तथा दस प्रकार की समाचारी का पालन करता है और आवश्यक क्रियाओं में संयमपूर्वक लगा रहता है।(५२–५३)

विशुद्ध गच्छ की प्ररूपणा करते हुए ग्रन्थ में कहा गया है कि गुरु अत्यन्त कठोर, कर्कश, अप्रिय, निष्ठुर तथा क्रूर वचनों के द्वारा उपालम्भ देकर भी यदि शिष्य को गच्छ से बाहर निकाल दे तो भी जो शिष्य द्वेष नहीं करते, निन्दा नहीं करते, अपयश नहीं फैलाते, निन्दित कर्म नहीं करते, जिनदेव प्रणीत सिद्धांत की आलोचना नहीं करते अपितु गुरु के कठोर, क्रूर आदि वचनों के द्वारा जो भी कार्य-अकार्य कहा जाता है उसे "तहत्ति" ऐसा कहकर स्वीकार करते हों, उन शिष्यों का गच्छ ही वास्तव में गच्छ है (५४-५६)।

सुविनीत शिष्य की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि वह न केवल वस्त्र-पात्रादि के प्रति ममता से रहित होता है अपितु वह शरीर के प्रति भी अनासक्त होता है। वह न रूप तथा रस के लिए और न सौन्दर्य तथा अहंकार के लिए अपितु चारित्र के भार को वहन करने के लिए ही शुद्ध एवं निर्दोष आहार ग्रहण करता है (५७-५९)

पाँचवें अंग आगम व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में वर्णित प्रश्नोत्तर शैली के अनुसार ही प्रस्तुत ग्रन्थ में भी गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि हे गौतम ! वही गच्छ वास्तव में गच्छ है जहाँ छोटे-बड़े का ध्यान रखा जाता हो, एक दिन भी जो दीक्षा पर्याय में बड़ा हो उसकी जहाँ अवज्ञा नहीं की जाती हो, भयंकर दुष्काल होने पर भी जिस गच्छ के साधु, साध्वी द्वारा लाया गया आहार ग्रहण नहीं करते हों, वृद्ध साधु भी साध्वियों से व्यर्थ वार्तालाप नहीं करते हों, स्त्रियों के अंगोपांगों को सराग दृष्टि से नहीं देखते हों ऐसा गच्छ ही वास्तव में गच्छ है (६०-६२)।

साधुओं के लिए साध्वियों के संसर्ग को सर्वथा त्याज्य माना गया है। ग्रन्थानुसार साध्वियों का संसर्ग अग्नि तथा विष के समान वर्जित है। जो साधु साध्वियों के साथ संसर्ग करता है वह शीघ्र ही निन्दा प्राप्त करता है। ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है कि स्त्री समूह से जो सदैव अप्रमत्त रहता है, वही ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है उससे भिन्न व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता (६३-७०)।

गच्छाचार-प्रकीर्णक की एक यह विशेषता है कि इसमें कहीं तो साधु के उपलक्षण से और कहीं साध्वी के उपलक्षण से सुविहित आचार मार्ग का निरूपण किया गया है। हमें यह ध्यान रखना

चाहिए कि आचार मार्ग का निरूपण चाहे साधु अथवा साध्वी के उपलक्षण से किया गया हो वह दोनों ही पक्षों पर लागू होता है। जैन आगमों में ऐसे अनेक प्रसंग हम देखते हैं जहाँ मुनि आचार का निरूपण किसी एक वर्ग विशेष के उपलक्षण से किया गया है, किन्तु हमें यह समझना चाहिए कि वह आचार निरूपण दोनों ही वर्गों पर समान रूप से लागू होता है।

ग्रन्थ में पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा त्रसकायिक जीवों को किसी प्रकार से पीड़ा नहीं पहुँचे, इस हेतु विशेष विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि स्वयं मरते हुए भी जिस गच्छ के साधु षट्कायिक जीवों को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाते हों, वास्तव में वही गच्छ है (७५-८१)।

प्रस्तुत ग्रन्थ में साधु के लिए स्त्री का तनिक भी स्पर्श करना दृष्टि विष सर्प, प्रज्वलित अग्नि तथा हलाहल विष की तरह त्याज्य माना गया है और यह कहा गया है कि जिस गच्छ के साधु बालिका, वृद्धा ही नहीं अपनी संसार पक्षीय पौत्री, दौहित्री, पुत्री एवं बहिन का स्पर्श मात्र भी नहीं करते हों, वही गच्छ वास्तविक गच्छ है। साधु के लिए ही नहीं गच्छ के आचार्य के लिए भी स्पष्ट कहा है कि आचार्य भी यदि स्त्री का स्पर्श करे तो उसे मूलगुणों से भ्रष्ट जानें (८२-८७)।

ग्रन्थ के अनुसार जिस गच्छ के साधु सोना-चाँदी, धन-धान्य आदि भौतिक पदार्थों तथा रंगीन वस्त्रों का परिभोग करते हों, वह गच्छ मर्यादाहीन है किन्तु जिस गच्छ के साधु कारण विशेष से भी ऐसी वस्तुओं का स्पर्श मात्र भी नहीं करते हों, वास्तव में वही गच्छ है (८९-९०)।

ग्रन्थ में साध्वियों द्वारा लाए गये वस्त्र, पात्र, औषधि आदि का सेवन करना साधु के लिए सर्वथा वर्जित माना गया है (९१-९६)।

प्रस्तुत ग्रन्थ में यह निर्देश दिया गया है कि आरम्भ-समारम्भ एवं कामभोगों में आसक्त तथा शास्त्र विपरीत कार्य करने वाले साधुओं के गच्छ को त्रिविध रूप से त्यागकर अन्य सद्गुणी गच्छ में चले जाना चाहिए और जीवन पर्यन्त ऐसे सद्गुणी गच्छ में रहना चाहिए (१०१-१०५)।

साध्वी स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जिस गच्छ में छोटी तथा युवा अवस्था वाली साध्वियाँ उपाश्रय में अकेली रहती हों, कारण विशेष से भी रात्रि के समय दो कदम भी उपाश्रय से बाहर जाती हों, गृहस्थों से अश्लील अथवा सावद्य भाषा में वार्ता करती हों, रंगीन वस्त्र धारण करती हों, अपने शरीर पर तैल मर्दन करती हों, स्नान आदि द्वारा शरीर का शृंगार करती हों, रूई से भरे गद्दों पर शयन करती हों या शास्त्र विपरीत ऐसे ही अनेकानेक कार्य करती हों, वह गच्छ वास्तव में गच्छ नहीं है (१०७-११६)।

किन्तु जिस गच्छ की साध्वियों में परस्पर कलह नहीं होता हो तथा जहाँ सावद्य भाषा नहीं बोली जाती हो, अर्थात् जहाँ शास्त्र विपरीत कोई कार्य नहीं होता हो, वह गच्छ ही श्रेष्ठ गच्छ है (११७)।

ग्रन्थ में स्वच्छंदाचारी साध्वियों का आचार निरूपण करते हुए बतलाया गया है कि ऐसी साध्वियाँ आलोचना नहीं करतीं, मुख्य साध्वी की आज्ञा का पालन नहीं करतीं, बीमार साध्वियों की सेवा नहीं करतीं, किन्तु वशीकरण विद्या एवं निमित्त आदि का प्रयोग करती हैं, रंग-बिरंगे वस्त्र पहनती हैं, विचित्र प्रकार के रजोहरण रखती हैं, अनेकबार अपने शरीर के अंगोपांगों को धोती हैं, गृहस्थों को आज्ञा देती हैं, उनके शय्या-पलंग आदि का उपयोग करती हैं, इस प्रकार वे स्वाध्याय, प्रतिक्रमण एवं प्रतिलेखन आदि करने योग्य कार्य नहीं करती हैं, किन्तु जो नहीं करने योग्य कार्य हैं, उनको वे करती हैं (११८-१३४)।

ग्रन्थ का समापन यह कहकर किया गया है कि महानिशीथ, कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार सूत्र तथा इसी तरह के अन्य ग्रन्थों से 'गच्छाचार' नामक यह ग्रन्थ समुद्धृत किया गया है। साधु-साध्वियों को चाहिए कि वे स्वाध्यायकाल में इसका अध्ययन करें तथा जैसा आचार इसमें निरूपित है वैसा ही वे आचरण करें (१३५-१३७)।

गच्छाचार-प्रकीर्णक की विषयवस्तु का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह आगम विहित मुनि-आचार का समर्थक और शिथिलाचार का विरोधी है। गच्छाचार में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जहाँ शिथिलाचार का विरोध किया गया है। यथा गाथा ८५ में स्पष्ट कहा गया है कि जिस गच्छ का साधु वैराग्यी आचार्य स्वयं ही

स्त्री का स्पर्श करता हो, उस गच्छ को मूलगुणों से भ्रष्ट जानें। गाथा ८९–९० में उस गच्छ को मर्यादाहीन कहा गया है, जिसके साधु-साध्वी सोना-चाँदी, धन-धान्य, काँसा-ताम्बा आदि का परिभोग करते हों तथा श्वेत वस्त्रों को त्यागकर रंगीन वस्त्र धारण करते हों। गाथा ९१ में तो यहाँ तक कहा गया है कि जिस गच्छ के साधु, साध्वियों द्वारा लाये गये संयमोपकरण का भी उपभोग करते हैं, वह गच्छ मर्यादाहीन है। इसी प्रकार गाथा ९३–९४ में अकेले साधु का अकेली साध्वी या अकेली स्त्री के साथ बैठना अथवा पढ़ाना मर्यादा विपरीत माना गया है।

ग्रन्थ में शिथिलाचार का विरोध करते हुए यहाँ तक कहा गया है कि जिस गच्छ के साधु क्रय-विक्रय आदि क्रियाएँ करते हों एवं संयम से भ्रष्ट हो चुके हों, उस गच्छ का दूर से ही परित्याग कर देना चाहिए। गाथा ११८–१२२ में स्वच्छंदाचारी साध्वियों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि दैवसिक, रात्रिक आदि आलोचना करने वाली, साध्वी प्रमुखा की आज्ञा में नहीं रहने वाली, बीमार साध्वियों की सेवा नहीं करने वाली, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि नहीं करने वाली साध्वियों का गच्छ निन्दनीय है।

गच्छाचार-प्रकीर्णक में उल्लिखित शिथिलाचार के ऐसे विवेचन से यह फलित होता है कि गच्छाचार उस काल की रचना है जब मुनि आचार में शिथिलता का प्रवेश हो चुका था और उसका खुलकर विरोध किया जाने लगा। जैन आचार के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि विक्रम की लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी से मुनियों के आचार में शिथिलता आनी प्रारम्भ हो चुकी थी। जैन धर्म में एक ओर जहाँ तन्त्र-मन्त्र और वाममार्ग के प्रभाव के कारण शिथिलाचारिता का विकास हुआ वहीं दूसरी ओर उसी काल में वनवासी परंपरा के स्थान पर जैनधर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में चैत्यवासी परम्परा का विकास हुआ जिसके परिणाम स्वरूप पाँचवीं-छठीं शताब्दी में जैन मुनिसंघ पर्याप्त रूप से सुविधाभोगी बन गया और उस पर हिन्दू परम्परा के मठवासी महन्तों की जीवन शैली का प्रभाव आ गया। शिथिलाचारी प्रवृत्ति का विरोध दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में इस प्रकार देखा जा सकता है—

(१) उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गुरुयभारो य।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छदि होदि मिच्छत्तं ॥

(सूत्रपाहुड, गाथा ९)

अर्थात् जो मुनि उत्कृष्ट चारित्र का पालन कर रहा हो, उग्र तपश्चर्या कर रहा हो तथा आचार्य पद पर आसीन हो फिर भी यदि वह स्वच्छंद विचरण कर रहा हो तो वह पापी मिथ्यादृष्टि है, मुनि नहीं।

(२) जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरा साहू ॥

(सूत्रपाहुड, गाथा १२)

अर्थात् जो मुनि क्षुधा आदि बाईस प्रकार के परिषदों को सहन करने वाला हों, कर्म क्षय रूप निर्जरा करने वाला हों, वे ही नमस्कार करने योग्य हैं।

(३) गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥

(बोधपाहुड, गाथा ४५)

अर्थात् सर्वप्रकार के परिग्रहों से जिनको मोह नहीं हों, बाईस प्रकार के परिषहों तथा कषायों को जो जीतने वाले हों तथा सर्वप्रकार के आरम्भ-समारम्भ से जो विरत रहते हों, उन मुनि की दीक्षा ही उत्तम है।

(४) धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं।
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥

(बोधपाहुड, गाथा ४६)

अर्थात् जो मुनि धन-धान्य, सोना-चाँदी, वस्त्र-आसन आदि से रहित हों, उनकी दीक्षा ही उत्तम है अर्थात् वे ही वास्तव में मुनि हैं।

(५) पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया॥
(बोधपाहुड, गाथा ५७)

अर्थात् जो मुनि पशु, स्त्री, नपुंसक तथा व्यभिचारी पुरुषों की संगति नहीं करते हों, अपितु स्वाध्याय और ध्यान में निरन्तर निमग्न रहते हों, उनकी दीक्षा ही उत्तम है अर्थात् वे ही वास्तव में मुनि हैं।

(६) कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
मायी लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सामणो॥
(लिंगपाहुड, गाथा १२)

जो मुनि मुनिलिंग धारण करके भी भोजन आदि रसों में गृद्ध रहता हो, उनके प्रति आसक्ति रखता हो, कामसेवन की कामना से अनेक प्रकार के छल-कपट करता हो, वह मायावी है, तिर्यञ्चयोनि अर्थात् पशुतुल्य है, मुनि नहीं।

(७) रागो करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेइ।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्ख जोणी ण सो समणो॥
(लिंगपाहुड, गाथा ५७)

अर्थात् जो मुनि मुनिलिंग धारण करके भी स्त्री समूह के प्रति राग करता हो, दर्शन और ज्ञान से रहित वह मुनि तिर्यञ्च योनि अर्थात् पशु समान है, मुनि नहीं।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाली ये गाथाएँ इसी रूप में गच्छाचार में नहीं मिलतीं किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इन गाथाओं के द्वारा भी आचार्य कुन्दकुन्द ने मुनियों की स्वच्छंदाचारी और शिथिलाचारी प्रवृत्तियों का ही विरोध किया है।

श्वेताम्बर परम्परा में मुनियों की स्वच्छंदाचारी और शिथिला-चारी प्रवृत्ति का विरोध सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्रसूरि के ग्रन्थ संबोध-

प्रकरण में देखा जाता है। गच्छाचार में तथा संबोध प्रकरण के कुगुरु अध्याय में कुछ गाथाएँ समान रूप से मिलती हैं, जिनका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है —

(१) जत्थ य मुणिणो कयविक्कयाइं कुव्वंति निच्चमुब्भट्ठा।
तं गच्छं गुणसायरविसं व दूरं परिहरिज्जा ॥
(संबोधप्रकरण, गाथा ४५)

जत्थ य मुणिणो कय-विक्कयाइं कुव्वंति संजमुब्भट्ठा।
तं गच्छं गुणसायर ! विसं व दूरं परिहरिज्जा ॥
(गच्छाचार, गाथा १०३)

(२) जत्थाइं विविट वण्णाईं अइसियसद्दाइं धूववासाइं।
पहिरिज्जइ जत्थगणे तं गच्छं मूलगुणमुक्कं ॥
जत्थ य विकहाइपरा कोउहल्ला दव्वलिंगिणो कूरा।
निम्मेरा निल्लज्जा तं गच्छं जाण गुणभट्ठं ॥
अन्नत्थियवसहा इव पुरओ गायंति जत्थ महिलाणं।
जत्थ जयारमयारं भणंति आलं सयं दिंति ॥
(संबोधप्रकरण, गाथा ४६, ४८, ४९)

सीवणं तुन्नणं भरणं गिहत्थाणं तु जा करे।
तिल्लउव्वट्टणं वा वि अप्पणो य परस्स य ॥
गच्छइ सविलासगई सयणीयं तूलियं सबिब्बोयं।
उव्वट्टेइ सरीरं सिणाणमाईणि जा कुणइ ॥
गेहेसु गिहत्थाणं गंतूण कहा कहेइ काहीया।
तरुणाइ अहिवडंते अणुजाणे, सा इ पडिणीया ॥
(गच्छाचार, गाथा ११३-११५)

(३) जत्थ य अज्जालद्धं पडिग्गहमाइं व विविहमुवगरणं।
पडिभुंजइ साहूहिं तं गोयम ! केरिसं गच्छं ॥
(संबोधप्रकरण, गाथा ५०)

जत्थ य अज्जालद्धं पडिग्गहमाई वि विविहमुवगरणं ।
परिभुञ्जइ साहूहिं, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ॥
(गच्छाचार, गाथा ९१)

(४) वज्जेह अप्पमत्ता अज्जासंसग्गिअग्गिविससरिसा ।
अज्जाणु चरो साहु लहइ अकित्तिं सु अचिरेण ॥
(संबोधप्रकरण, गाथा ५१)

वज्जेह अप्पमत्ता अज्जासंसग्गि अग्गि-विससरिसी ।
अज्जाणुचरो साहू लहइ अकित्तिं सु अचिरेण ॥
(गच्छाचार, गाथा ६३)

(५) जत्थ हिरण्णसुवण्णं हत्थेण पराणगं पि नो छिप्पे ।
कारण समप्पियं पि हु गोयमा ! गच्छं तयं भणिमो ॥
(संबोध प्रकरण, गाथा ५२)

जत्थ हिरण्ण-सुवण्णं हत्थेण पराणगं पि नो छिप्पे ।
कारणसमप्पियं पि हु निमिस-खणद्धं पि, तं गच्छं ॥
(गच्छाचार, गाथा ९०)

गच्छाचार प्रकीर्णक में आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य हरिभद्रसूरि की तरह ही जैन मुनियों की स्वच्छन्दाचारी तथा शिथिलाचारी प्रवृत्ति का विरोध किया गया है। यद्यपि यह कहना तो कठिन है कि आचार्य कुन्दकुन्द और हरिभद्रसूरि की आलोचनाओं से जैन मुनिसंघ में यथार्थ रूप से कोई सुधार आ गया था क्योंकि यदि यथार्थ रूप से कोई सुधार आया होता तो भट्टारक और चैत्यवासी परम्परा समाप्त हो जानी चाहिए थी, किन्तु अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ८वीं–९वीं शताब्दी में भट्टारक और चैत्यवासी परम्परा न केवल जीवित थी, अपितु फलफूल रही थी। जिसके परिणाम स्वरूप निर्ग्रन्थ परम्परा में स्वच्छन्दाचारी एवं शिथिलाचारी प्रवृत्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। जैसा कि हम पूर्व में ही यह प्रतिपादित

कर चुके हैं कि लगभग उसी काल में गच्छाचार की रचना हुई होगी। वस्तुतः गच्छाचार ऐसा ग्रन्थ है जो जैन मुनि संघ को आगमोक्त आचार विधि के परिपालन हेतु निर्देश ही नहीं देता है वरन् उसे स्वच्छन्दाचारी और शिथिलाचारी प्रवृत्तियों से दूर रहने का आदेश भी देता है। इस ग्रन्थ का सम्यक् अध्ययन जैन मुनि संघ के लिए इसलिए भी आवश्यक है कि वह आगम निरूपित आदर्श आचार संहिता का आचरण कर अपने को गरिमामंडित कर सके।

वाराणसी सागरमल जैन

१२ दिसम्बर, १९९४ सुरेश सिसोदिया

गच्छायारपइण्णयं

(गा. १ मंगलमभिधेयं च)

नमिऊण महावीरं तियसिंदनमंसियं महाभागं ।
गच्छायारं किंची उद्धरिमो सुयसमुद्दाओ ॥ १ ॥

(गा. २. उम्मग्गगामिगच्छसंवासे हाणी)

अत्थेगे गोयमा ! पाणी जे उम्मग्गपइट्ठिए ।
गच्छम्मि संवसित्ताणं भमई भवपरंपरं ॥ २ ॥

(गा. ३-६. सदायारगच्छसंवासे गुणाइ)

जामद्धं जाम दिण पक्खं मासं संवच्छरं पि वा ।
सम्मग्गपट्ठिए गच्छे संवसमाणस्स गोयमा ! ॥ ३ ॥

लीलाअलसमाणस्स निरुच्छाहस्स वीमणं ।
[1]पेक्खोविक्खाइ अन्नेसिं महाणुभागाण साहुणं ॥ ४ ॥

उज्जमं सव्वथामेसु घोर-वीरतवाइयं ।
[2]लज्जं संकं अइक्कम्म तस्स विरियं समुच्छले ॥ ५ ॥

वीरिएणं तु जीवस्स समुच्छलिएण गोयमा ! ।
जम्मंतरकए पावे पाणी मुहुत्तेण निद्दहे ॥ ६ ॥

(गा. ७-४०. आयरियसरूववण्णणाहिगारो)

तम्हा निउणं निहालेउं गच्छं सम्मग्गपट्ठियं ।
वसेज्ज तत्थ आजम्मं गोयमा ! संजए मुणी ॥ ७ ॥

---

१. पक्खाविक्खीइ सा० । पेक्खाविक्खीइ जे० सा० विना ॥ २. ईसक्कासंक भय लज्जा तस्स सं० । इक्कासंत भय लज्जा तस्स पु० ॥

गच्छाचार प्रकीर्णक

(१. मंगल और अभिधेय)

(१) त्रिदशेन्द्र* (देव-पति) जिसे नमस्कार करते हों, उन महाभाग महावीर को नमस्कार करके (मैं) श्रुत रूपी समुद्र में से गच्छाचार का किञ्चित् वर्णन करूँगा।

(२. उन्मार्गगामी गच्छ में रहने से हानि)

(२) हे गौतम ! कुछ प्राणी ऐसे हैं जो उन्मार्गगामी गच्छ में स्थिर रहकर भव परम्परा में परिभ्रमण करते हैं।

(३-६ सन्मार्गगामी गच्छ में रहने से लाभ)

(३-५) हे गौतम ! आधा प्रहर, प्रहर, दिन, पक्ष, मास, वर्ष अथवा इससे भी अधिक समय तक सन्मार्ग में प्रतिष्ठित गच्छ में रहने से यह लाभ होता है कि यदि (किसी को) आलस्य आ जाए, अहंकार आ जाए, उत्साह भंग हो जाए अथवा मन खिन्न हो जाए तो वह अन्य महाभाग्यवान् साधुओं को देखकर तप आदि सभी में घोर पुरुषार्थ करने लग जाता है। तब लज्जा, शंका आदि का अतिक्रमण कर उसका पुरुषार्थ प्रबल हो जाता है।

(६) हे गौतम ! जिस समय जीव में आत्मबल का संचार होता है उस समय वह जन्मजन्मान्तर के पापों को एक मुहूर्तभर में धो डालता है।

(७-४० आचार्य स्वरूप वर्णन अधिकार)

(७) इसलिए हे गौतम ! सन्मार्ग पर चल रहे गच्छ को सम्यक् प्रकार से देखकर संयत मुनि जीवन पर्यन्त उसमें रहे।

---

* जैन परम्परा में त्रायत्रिंश देवताओं का एक भेद है और इनका अधिपति त्रिदशेन्द्र कहलाता है।

मेढी आलंबणं खंभं दिट्ठी जाणं सुउत्तमं।
सूरी [1]जं होइ गच्छस्स तम्हा तं तु परिक्खए ॥ ८ ॥

भयवं! केहिं लिंगेहिं [2]सूरिं उम्मग्गपट्ठियं।
वियाणिज्जा[3] छउमत्थे मुणी ? तं मे निसामय ॥ ९ ॥

सच्छंदयारिं दुस्सीलं, आरंभेसु पवत्तयं।
पीढयाइपडीबद्धं, आउक्कायविहिंसगं ॥१०॥

मूलुत्तरगुणब्भट्ठं, सामायारीविराहयं।
अदिन्नालोयणं निच्चं निच्चं विगहपरायणं ॥११॥

छत्तीसगुणसमन्नागएण तेण वि अवस्स दायव्वा।
परसक्खिया विसोही सुट्ठु वि ववहारकुसलेणं ॥१२॥

जह सुकुसलो वि विज्जो अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहिं।
विज्जुवएसं[4] सुच्चा पच्छा सो कम्ममायरइ ॥१३॥

देसं खेत्तं तु जाणित्ता वत्थं पत्तं उवस्सयं।
संगहे साहुवग्गं च, सुत्तत्थं च निहालई[5] ॥१४॥

संगहोवग्गहं विहिणा न करेइ य जो गणी।
समणं समणिं तु दिक्खित्ता सामायारिं न गाहए ॥१५॥

बालाणं जो उ सीसाणं जीहाए उवलिंपए।
न सम्ममग्गं गाहेइ सो सूरी जाण वेरिओ ॥१६॥

---

१. उ सं० ॥ २. सूरी सं० ॥ ३. मग्गट्ठियं न जाणेज्जा छउमत्थे ? तं मे सं० ॥ ४. विज्जोवएस सोच्चा सं० पु० ॥ ५. निहालिंउं सं० पु० ॥

(८) गच्छ के आचार्य मेढी तथा स्तम्भ के समान आधारभूत तथा उत्तम दृष्टि (सम्यक् दृष्टि) वाले हों, इसकी परीक्षा अवश्य करनी चाहिए।

(९) हे भगवन् ! छद्मस्थ मुनि यह कैसे जानें कि कौन आचार्य उन्मार्ग में प्रस्थित हैं ? हे मुनि ! इस बारे में तुम मुझसे सुनो।

(१०-११) स्वच्छंदाचारी, दुष्ट स्वभाव वाले, जीव हिंसा में प्रवृत्त, शय्या आदि में आसक्त, अप्काय की हिंसा करने वाले, मूल-उत्तरगुणों से भ्रष्ट, समाचारी का उल्लंघन करने वाले तथा आलोचना नहीं करने वाले और नित्य विकथा कहने वाले आचार्य उन्मार्ग-गामी हैं।

(१२) छत्तीस गुणों से युक्त व्यवहार कुशल आचार्य के लिए भी यही श्रेष्ठ है कि वह दूसरों की साक्षी से अपने दोषों की आलोचना अवश्य करें।

(१३) जिस प्रकार अति कुशल वैद्य भी अपनी बीमारी को किसी अन्य वैद्य को बतलाता है और उनके निर्देशानुसार चिकित्सा करता है उसी प्रकार कुशल आचार्य भी अपने दोषों को अन्य आचार्य को कहकर उनके निर्देशानुसार आलोचनादि करके अपनी शुद्धि करते हैं।

(१४) आचार्य आगम के अर्थ को देखकर तथा देश, काल और परि-स्थिति को जानते हुए साधु-समूह के लिए वस्त्र, पात्र और उपाश्रय आदि ग्रहण करें।

(१५-१६) जो आचार्य (वस्त्र, पात्र आदि) उपधि को विधिपूर्वक ग्रहण नहीं करते हैं, साधु-साध्वियों को दीक्षा तो दे देते हैं किन्तु उनसे समाचारी का पालन नहीं करवाते हैं, नवदीक्षित शिष्यों को लाड़ प्यार से रखते हैं किन्तु उन्हें सन्मार्ग पर स्थित नहीं करते, उन आचार्य को (तुम) शत्रु जानो।

जीहाए विलिहंतो न भद्दओ सारणा जहिं नत्थि ।
डंडेण वि ताडंतो स भद्दओ सारणा जत्थ ॥१७॥

सीसो वि वेरिओ सो उ जो गुरुं न विबोहए ।
पमायमइराघत्थं[1] सामायारीविराहयं ॥१८॥

तुम्हारिसा वि मुणिवर ! पमायवसगा हवंति जइ पुरिसा ।
तो को अन्नो[2] अम्हं आलंबण होज्ज संसारे ? ॥१९॥

नाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तिसु वि[3] समयसारेसु ।
चोएइ जो ठवेउं गणमप्पाणं च सो य गणी ॥२०॥

पिंडं उवहिं सेज्जं उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं ।
चारित्तरक्खणट्ठा सोहिंतो होइ स चरित्ती ॥२१॥

अप्परिसावी सम्मं समपासी चेव होइ कज्जेसु ।
सो रक्खइ चक्खुं पिव सबाल-वुड्ढाउलं गच्छं ॥२२॥

सीयावेइ विहारं सुहसीलगुणेहिं जो अबुद्धीओ ।
सो नवरि लिंगधारी संजमजोएण[4] निस्सारो ॥२३॥

कुल गाम नगर रज्जं पयहिय जो तेसु कुणइ हु[5] ममत्तं ।
सो नवरि लिंगधारी संजमजोएण[6] निस्सारो[7] ॥२४॥

विहिणा जो उ चोएइ, सुत्तं अत्थं च गाहए ।
सो धण्णो, सो य पुण्णो य, स बंधू मोक्खदायगो ॥२५॥

---

१. °मयरा° सं० ॥ २. तेणऽन्नो को अ° पु० वृ० ॥ ३. य सं० ॥
४. °मसारेण नि° जे० सं० । °मधारेण नि° पु० ॥ ५. अ सा० ॥
६. °मसारेण पु० ॥ ७. नीसारो सं० ॥

(१७) जिह्वा के द्वारा मीठे-मीठे वचन बोलते हुए भी जो आचार्य शिष्यों को हित-शिक्षा नहीं देते हों, वे शिष्यों के हित-साधक नहीं हैं। इसके विपरीत दण्डे से पीटते हुए भी जो आचार्य शिष्यों के हित-साधक हों, वे कल्याणकर्त्ता हैं।

(१८) प्रमाद के वशीभूत हो यदि कभी गुरु समाचारी विराधक हो जाए तो ऐसे समय में जो शिष्य गुरु को सचेत नहीं करता, वह शिष्य भी (अपने गुरु का) शत्रु है।

(१९) हे मुनिवर ! यदि आप जैसे महापुरुष भी प्रमाद के वशीभूत हो जायेंगे तो इस संसार में कौन दूसरा हमारा सहारा होगा ?

(२०) जिनवाणी का सार—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना में है। जो अपनी आत्मा को तथा गच्छ को इन तीनों में स्थापित करने की प्रेरणा देता है, वास्तव में वही गच्छ का आचार्य है।

(२१) चारित्र की रक्षा के लिए भोजन, उपधि* तथा शय्या आदि के उद्गम, उत्पादन और एषणा आदि दोषों को शुद्ध करता हुआ जो शोभित होता है, वही चारित्रवान् है।

(२२) गोपनीय बात को प्रकट नहीं करने में जो प्रामाणिक हैं और सभी कार्यों में जो समदर्शी होते हैं, वे आचार्य आबालवृद्ध समन्वित गच्छ की चक्षु के समान रक्षा करते हैं।

(२३) जो सुखाकांक्षी अज्ञानी (मुनि) विचरण में शिथिलता वर्तता है, वह संयम बल से रहित केवल वेशधारी है।

(२४) कुल, ग्राम, नगर और राज्य को त्यागकर भी जो मुनि उनके प्रति ममत्व करता है, वह संयम बल से रहित केवल वेशधारी है।

(२५) जो आचार्य शास्त्रोक्त मर्यादा पूर्वक शिष्य को प्रेरणा देते हैं तथा आगम वचन के अर्थ को समझाते हैं, वे धन्यवाद के पात्र हैं, पुण्यवान् हैं, मित्रवत् हैं और मोक्ष दिलाने वाले हैं।

---

* मुनि जीवन के लिए आवश्यक उपकरण उपधि कहे जाते हैं।

स एव भव्वसत्ताणं चक्खुब्भूए वियाहिए।
दंसेइ जो जिणुद्दिट्ठं अणुट्ठाणं जहट्ठियं ॥२६॥

तित्थयरसमो सूरी सम्मं जो जिणमयं पयासेइ।
आणं अइक्कमंतो सो काउरिसो, न सप्पुरिसो ॥२७॥

भट्ठायारो सूरी १ भट्ठायाराणुवेक्खओ सूरी २।
उम्मग्गठिओ सूरी ३ तिन्नि वि मग्गं पणासंति ॥२८॥

उम्मग्गठिए सम्मग्गनासए[1] जो य सेवए सूरी।
नियमेणं सो गोयम! अप्पं पाडेइ संसारे ॥२९॥

उम्मग्गठिओ एक्को वि नासए[2] भव्वसत्तसंघाए।
तम्मग्गमणुसरंते जह कुत्तारो[3] नरो होइ ॥३०॥

उम्मग्गमग्गसंपट्ठियाण[4] सूरीण गोयमा! णूणं।
संसारो य अणंतो होइ[5] य सम्मग्गनासीणं ॥ ३१॥

सुद्धं सुसाहुमग्गं कहमाणो ठवइ तइयपक्खम्मि।
अप्पाणं, इयरो पुण गिहत्थधम्माओ[6] चुक्को त्ति ॥३२॥

जइ वि न [7]सक्कं काउं सम्मं जिणभासियं अणुट्ठाणं।
[8]तो सम्मं भासिज्जा जह भणियं खीणरागेहिं ॥३३॥

ओसन्नो वि विहारे कम्मं सोहेइ सुलभबोही य।
चरण-करणं विसुद्धं उववूहिंतो परूविंतो ॥३४॥

---

१. सम्मत्तना° सं० ॥ २. °ए सव्व° ॥ ३. कुत्तारू न° सा० सं० पु० ॥ ४. °ण साहूण जे० पु० वृ० ॥ ५. होई स° जे० ॥ ६. चुक्कु त्ति जे० पु० । चुक्केत्ति सा० ॥ ७. सक्कइ का° सं० ॥ ८. ता जे० ॥

(२६) वे ही आचार्य भव्य प्राणियों के लिए चक्षु के समान अर्थात् मार्गदर्शक कहे जा सकते हैं जो जिन उपदिष्ट अनुष्ठान (विधि-निषेध) को यथार्थ रूप से बतलाते हैं।

(२७) जो आचार्य जिनमत को सम्यक् प्रकार से प्रसारित करते हैं, वे तीर्थंकर के समान आदरणीय हैं। किन्तु जो आचार्य जिन वचन का उल्लंघन करते हैं, वे सत्पुरुष नहीं अपितु कायरपुरुष हैं।

(२८) तीन प्रकार के आचार्य जिनमार्ग को नष्ट करते हैं—(१) स्वतः भ्रष्ट आचरण करनेवाले आचार्य, (२) भ्रष्ट आचरण करनेवालों की उपेक्षा करने वाले आचार्य तथा (३) उन्मार्गगामी आचार्य।

(२९) उन्मार्ग में स्थित तथा सन्मार्ग का नाश करने वाले आचार्य की जो शिष्य सेवा करता है, हे गौतम! निश्चय ही वह शिष्य आत्मा को संसार (समुद्र) में गिराता है।

(३०) उन्मार्ग में स्थित एक व्यक्ति भी भव्य जीव समूह को उसी प्रकार ले डूबता है जिस प्रकार अयोग्य तारक का अनुसरण करते हुए कई मनुष्य डूब जाते हैं।

(३१) हे गौतम! सन्मार्ग का नाश करने वाले तथा उन्मार्ग पर प्रस्थित आचार्य का संसार परिभ्रमण निश्चय ही अनन्त होता है।

(३२) अत्यन्त शुद्ध मुनिधर्म का कथन करने वाला अपनी आत्मा को उसी पक्ष में अर्थात् शुद्ध मुनिधर्म में स्थापित कर लेता है, किन्तु इससे भिन्न आत्माएँ गृहस्थ धर्म से भी भ्रष्ट हो जाती हैं।

(३३-३४) यदि तुम जिन-भगवान् के कथनानुसार सम्यक् आचरण नहीं कर सकते तो भी कम से कम जिन-भगवान् ने जैसा कथन किया है वैसा कथन तो करो, क्योंकि आचरण से शिथिल होते हुए भी जो शुद्ध आचार मार्ग अर्थात् मूल एवं उत्तरगुणों का प्रशंसक होता है, वह अपने कर्मों का क्षय कर सुलभबोधि होता है।

सम्मग्गमग्गसंपट्ठियाण साहूण कुणइ वच्छल्लं ।
ओसह-भेसज्जेहि य सयमन्नेण तु कारेई ॥३५॥

भूए अत्थि भविस्संति केइ [1]तेलोक्कनमंसणीयकमजुयले ।
जेसिं परहियकरणेक्कबद्धलक्खाण वोलिही कालो ॥३६॥

तीयाणागयकाले केई होहिंति गोयमा ! सूरी ।
जेसिं नामग्गहणे[2] वि होज्ज[3] नियमेण पच्छित्तं ॥३७॥

सइरीभवंति अणवेक्खयाइ, जह-भिच्च-वाहणा लोए ।
पडिपुच्छ[4] सोहि चोयण, तम्हा उ गुरू सया भयई ॥३८॥

जो उ प्पमायदोसेणं, आलस्सेणं तहेव य ।
सीसवग्गं न चोएइ, तेण आणा विराहिया ॥३९॥

संखेवेणं मए सोम्म[5] ! वण्णियं गुरुलक्खणं ।
गच्छस्स लक्खणं धीर ! संखेवेणं निसामय ॥४०॥

(गा. ४१-१०६. साहुसरूववण्णणाहिगारो)

गीयत्थे जे सुसंविग्गे अणालस्सी दढव्वए ।
अक्खलियचरित्ते सययं राग-द्दोसविवज्जिए ॥४१॥

निट्ठवियअट्ठमयठाणे [6]समियकसाए जिइंदिए ।
विहरिज्जा तेण सद्धिं तु छउमत्थेण वि केवली ॥४२॥

१. °नमियक° सा० ॥ २. °हणेण हो° जे० सं० पु० ॥ ३. होइ नि° जे० ॥ ४. पडिपुच्छाहि चो° जे० वृ० ॥ ५. सोम ! मं० ॥ ६. सुसिय° सा० । सोसिय° ह० ॥

(३५) जो साधक आत्मा सन्मार्ग में आरूढ़ हैं उनके प्रति वात्सल्य-भाव रखना चाहिए तथा उनकी औषध आदि से स्वयं सेवा करनी चाहिए और दूसरों से करवानी भी चाहिए।

(३६) ऐसे कई महापुरुष भूतकाल में हुए हैं, वर्तमान् में हैं और भविष्य में होंगे, जो अपना सम्पूर्ण जीवन अपने एकमात्र लक्ष्य लोकमंगल (लोकहित) हेतु व्यतीत करते हैं। ऐसे महापुरुषों के चरण युगल में तीनों लोकों के प्राणी नतमस्तक होते हैं।

(३७) हे गौतम ! ऐसे कई आचार्य अतीतकाल में हुए हैं और भविष्य में होंगे, जिनका व्यक्तित्व स्मरण करने से पापकर्मों का प्रायश्चित्त हो जाता है।

(३८) जिसप्रकार संसार में भृत्य (नौकर) एवं अश्व आदि वाहन सम्यक् देख-भाल या नियन्त्रण के अभाव में स्वैर (स्वच्छंद) हो जाते हैं उसी प्रकार प्रतिप्रश्न, प्रायश्चित्त तथा प्रेरणा के बिना शिष्य भी स्वच्छंद हो जाते हैं। इसलिए गुरु का भय सदैव ही अपेक्षित है।

(३९) जो आचार्य आलस्य, प्रमाद तथा उसी प्रकार के अन्य किसी दोष के कारण अपने शिष्यों को प्रेरणा नहीं देते हैं, उनके द्वारा जिन-आज्ञा की विराधना होती है।

(४०) हे सौम्य शिष्य ! यहाँ तक आचार्य के लक्षणों का यह संक्षिप्त वर्णन मेरे द्वारा किया गया है। हे धैर्यवान् शिष्य ! अब तुम मुझसे संक्षेप में गच्छ के लक्षणों को सुनो।

(४१-१०६ साधु स्वरूप वर्णन अधिकार)

(४१) जो शास्त्रों का सम्यक् अर्थ रखने वाले, संसार से मुक्त होने की इच्छा रखने वाले, आलस्य रहित, व्रतों का दृढ़तापूर्वक पालन करने वाले, सदैव अस्खलित चारित्र वाले तथा राग-द्वेष से मुक्त हैं, उन साधुओं का गच्छ ही वास्तव में गच्छ है।

(४२) ऐसे छद्मस्थ या केवली के सान्निध्य में विहार करना चाहिए, जिन्होंने आठ प्रकार के गर्व के स्थानों (अर्थात् अहंकार) का नाश कर लिया हो, कषायों को शांत कर लिया हो तथा इन्द्रियों को वश में कर लिया हो।

जे ¹अणहिग्यपरमत्थे गोयमा ! संजए भवे ।
तम्हा ते विवज्जेज्जा दोग्गईपंथदायगे ॥४३॥

गीयत्थस्स वयणेणं विसं हालाहलं पिबे ।
निव्विकप्पो य भक्खेज्जा तक्खणा जं समुद्दवे ॥४४॥

परमत्थओ विसं णो तं, अमयरसायणं खु तं ।
निव्विग्घं जं न तं मारे, मओ वि सो अमयस्समो ॥४५॥

²अगीयत्थस्स वयणेणं अमयं पि न घुंटए ।
जेण नो तं भवे अमयं, जं अगीयत्थदेसियं ॥४६॥

परमत्थओ न तं अमयं, विसं हालाहलं खु तं ।
न तेण अजरामरो हुज्जा, तक्खणा निहणं वए ॥४७॥

अगीयत्थ-कुसीलेहिं संगं तिविहेण वोसिरे ।
मुक्खमग्गस्सिमे विग्घे, पहम्मी तेणगे जहा ॥४८॥

पज्जलियं हुयवहं दट्ठुं निस्संको तत्थ पविसिउं ।
अत्ताणं निद्दहिज्जाहि, नो कुसीलस्स अल्लिए ॥४९॥

पज्जलंति जत्थ धगधगधगस्स गुरुणा वि चोइए सीसे ।
राग-द्दोसेण वि अणुसएण, तं गोयम ! न गच्छं ॥५०॥

गच्छो महाणुभावो, तत्थ वसंताण निज्जरा विउला ।
सारण-वारण-चोयणमाईहिं न दोसपडिवत्ती ॥५१॥

गुरुणो छंदणुवित्ती, सुविणीए जियपरीसहे धीरे ।
ण वि थद्धे, ण वि लुद्धे, ण वि गारविए विगहसीले ॥५२॥

---

१. ता जेऽणभीय' सं० ॥ २. अग्गीयस्स सं० पु० ॥

(४३) हे गौतम ! जो साधु होकर भी परमार्थ के अध्ययन से रहित हैं, दुर्गति मार्ग में डालने वाले ऐसे साधुओं का साथ छोड़ देना चाहिए।

(४४-४५) चाहे गीतार्थ के वचन घातक हलाहल विष के सदृश प्रतीत होते हों तो भी उन्हें बिना किसी विकल्प के तत्काल स्वीकार कर लेना चाहिए। वस्तुतः वे वचन विष नहीं, अपितु अमृत (रसायन) तुल्य होते हैं। निर्विघ्न वचन एक तो किसी को मारते नहीं और दूसरा यदि कोई उनसे मर भी जाये तो उसका मरण अमरण के समान होता है अर्थात् वह मरकर भी अमर हो जाता है।

(४६-४७) चाहे अगीतार्थ के वचन अमृत तुल्य प्रतीत हों तो भी उन्हें स्वीकार नहीं करना चाहिए। वस्तुतः वे वचन अमृत नहीं, अपितु हलाहल विष की तरह हैं। अगीतार्थ के वचन ग्रहण करने से जीव तत्काल मृत्यु को प्राप्त होता है और वह कभी भी जन्म-मरण से रहित नहीं हो पाता।

(४८) अगीतार्थ और दुराचारी की संगति का मन, वचन एवं कर्म से परित्याग करें। उन्हें मोक्ष मार्ग में चोर एवं लुटेरों की तरह बाधक समझें।

(४९) जलती हुई अग्नि को देखकर निस्संकोच उसमें प्रविष्ट होकर अपने शरीर को भस्म कर देना अच्छा है, किन्तु दुराचारी की संगति करना अच्छा नहीं है।

(५०) गुरु के द्वारा समझाने पर भी राग-द्वेष और अहंकार के कारण जहाँ शिष्यों की क्रोधाग्नि अधिक भड़क उठती हो, हे गौतम ! वह गच्छ वास्तव में गच्छ नहीं है।

(५१) हे भाग्यवान् ! गच्छ में रहकर ही अधिकाधिक निर्जरा की जा सकती है क्योंकि उसमें गुरुजनों द्वारा सारण (स्मरण कराने), वारण (निषेध करने) तथा चोदण (प्रेरणा देने) से (जीवन में) दोष की ओर प्रवृत्ति नहीं होती है।

(५२) सुविनीत शिष्य गुरुजनों की आज्ञा का विनय पूर्वक पालन करता है तथा धैर्यपूर्वक परिषहों को जीतता है। वह न तो अभिमान करता है न लोभ करता है। न गर्व करता है और न ही वह विवाद करता है।

खंते दंते गुत्ते मुत्ते वेरग्गमग्गमल्लीणे ।
दसविहसामायारी-आवस्सग-संजमुज्जुत्ते ॥५३॥

खर-फरुस-कक्कसाए अणिट्ठदुट्ठाए निट्ठुरगिराए ।
निब्भच्छण-निद्धाडणमाईहिं न जं पउस्संति ॥५४॥

जे य न अकित्तिजणए नाजसजणए नऽकज्जकारी य ।
न पवयणुड्डाहकरे कंठग्गयपाणसेसे वि ॥५५॥

गुरुणा कज्जमकज्जे खर-कक्कस-दुट्ठ-निट्ठुरगिराए ।
भणिए तहत्ति [1]सीसा भणंति, तं गोयमा ! गच्छं ॥५६॥

दूरुज्झिय पत्ताइसु ममत्तए, निप्पिहे सरीरे वि ।
[2]जायमजायाहारे बायालीसेसणाकुसले ॥५७॥

तं पि न रूव-रसत्थं, न य वण्णत्थं, न चेव दप्पत्थं ।
संजमभरवहणत्थं, अक्खोवंगं व वहणत्थं ॥५८॥

वेयण १ वेयावच्चे २ इरियट्ठाए, ३ य संजमट्ठाए ४ ।
तह पाणवत्तियाए ५ छट्ठं पुण धम्मचिंताए ६ ॥५९॥

जत्थ य जेट्ठ-कणिट्ठो जाणिज्जइ [3]जेट्ठविणय-बहुमाणा ।
दिवसेण वि जो जेट्ठो न हीलिज्जइ, स गोयमा ! गच्छो ॥६०॥

---

१. सीसे सं० पु० ॥ २. जत्तामत्ताहारे खं० ॥ ३. °ठुवरणम° जे० तृ० ॥

(५३) सुविनीत शिष्य क्षमाशील होता है, इन्द्रियों को जीतने वाला होता है, स्व-पर की रक्षा करने वाला होता है और वैराग्य मार्ग में लीन रहता है। वह दस प्रकार की समाचारी का पालन करता है तथा आवश्यक क्रियाओं में संयम पूर्वक लगा रहता है।

(५४-५५) यदि गुरु अत्यन्त कठोर, कर्कश, अप्रिय, निष्ठुर तथा क्रूर वचनों के द्वारा उपालम्भ देकर शिष्य को गच्छ से बाहर निकाल दे तो भी जो शिष्य द्वेष नहीं करते, प्राण कण्ठ में आ जाये अर्थात् मृत्यु समीप आ जाये तो भी निन्दा नहीं करते, अपयश नहीं फैलाते, कोई अकार्य अर्थात् निन्दित कर्म नहीं करते तथा जिनदेव-प्रणीत सिद्धान्त की आलोचना नहीं करते, उन शिष्यों का गच्छ ही वास्तव में गच्छ है।

(५६) जहाँ गुरु के द्वारा अत्यन्त कठोर, अप्रिय, निष्ठुर एवं क्रूर वचनों के द्वारा जो भी कार्य-अकार्य कहा जाता है, शिष्य 'तहत्ति' ऐसा कहकर उसे स्वीकार करता है, हे गौतम! उस गच्छ को ही वास्तव में गच्छ कहते हैं।

(५७-५८) सुविनीत शिष्य न केवल वस्त्र, पात्र आदि के प्रति ममता से रहित होता है अपितु वह शरीर के प्रति भी अनासक्त होता है। वह आहार मिलने पर अथवा नहीं मिलने पर उसके बयालीस दोषों को टालने में समर्थ होता है। वह न रूप तथा रस के लिए, न सौन्दर्य के लिए और न ही अहंकार के लिए अपितु गाड़ी की धुरा के उपांग के समान चारित्र के भार को वहन करने के लिए ही (शुद्ध एवं निर्दोष आहार) ग्रहण करता है।

(५९) साधु उपरोक्त छह कारणों से आहार ग्रहण करता है— (१) वेदना शान्त करने के लिए, (२) वैयावृत्य अर्थात् गुरु की सेवा करने के लिए, (३) ईर्यासमिति का सम्यक् रूप से पालन करने के लिए, (४) संयम-निर्वाह के लिए, (५) जीवन-निर्वाह के लिए तथा (६) धर्म-ध्यान के लिए।

(६०) जहाँ छोटे-बड़े का ध्यान रखा जाता हो, बड़ों को प्रणाम तथा बहुमान दिया जाता हो, यहाँ तक कि जो एक दिन भी (दीक्षा पर्याय में) बड़ा हो, उसकी अवज्ञा नहीं की जाती हो, हे गौतम! वही गच्छ वास्तव में गच्छ है।

जत्थ य अज्जाकप्पं[1] पाणच्चाए वि रोरदुब्भिक्खे ।
न य [2]परिभुंजइ सहसा, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥६१॥

जत्थ य अज्जाहि समं थेरा वि न उल्लवंति गयदसणा ।
न य झायंतित्थीणं अंगोवंगाइं, तं गच्छं ॥६२॥

वज्जेह अप्पमत्ता अज्जासंसग्गि अग्गि-विससरिसी ।
अज्जाणुचरो साहू लहइ अकित्तिं खु अचिरेण ॥६३॥

थेरस्स तवस्सिस्स व बहुस्सुयस्स व पमाणभूयस्स ।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जा हि ॥६४॥

किं पुण तरुणो अबहुस्सुओ य ण य वि हु विगिट्ठतवचरणो ।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणय न पावेज्जा ? ॥६५॥

जइ[3] वि सयं थिरचित्तो तहा वि संसग्गिलद्धपसराए[4] ।
अग्गिसमीवे व घयं विलिज्ज चित्तं खु अज्जाए ॥६६॥

सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि[5] अप्पमत्तो सया अवीसत्थो ।
नित्थरइ बंभचेरं, तव्विवरीओ न नित्थरइ ॥६७॥

सव्वत्थेसु[6] विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो[7] ।
सो होइ अणप्पवसो अज्जाणं अणुचरंतो उ ॥६८॥

खेलपडियमप्पाणं न तरइ जह मच्छिया विमोएउं ।
अज्जाणुचरो साहू न तरइ अप्पं[8] विमोएउं ॥६९॥

साहुस्स[9] नत्थि लोए अज्जासरिसी हु बंधणे उवमा ।
धम्मेण सह ठवेंतो[10] न य सरिसो जाणगसिलेसो[11] ॥७०॥

---

१. °कप्पो जे० ॥ २. परिभुञ्जइ सं०जे० ॥ ३. जयवि पु० ॥ ४. °सरगल° सं० ॥ ५. अत्थि° पु० ॥ ६. °त्थवत्तो वि विमु° सं० ॥ ७. अपवेसो सं० पु० ॥ ८. अप्पा वि° जे० सं० पु० ॥ ९. इयं गाथा गीतार्थैर्यदृष्ट्या सविशेषं विचारणीयाऽस्ति ॥ १०. उवेंतो जे०सं० ॥ ११. जाणयसिलेसा जे० ॥ जाभअसिलेसो जे०-सं० विना ॥

(६१) भयंकर दुष्काल होने पर प्राण त्याग का कष्ट आ जाये फिर भी जहाँ साधु बिना विचारे साध्वी द्वारा लाया गया आहार ग्रहण नहीं करते हों, हे गौतम ! उसी गच्छ को गच्छ कहते हैं।

(६२) जहाँ दन्तविहीन वृद्ध साधु भी साध्वियों से वार्तालाप नहीं करते तथा स्त्रियों के अंगोपांगों को नहीं देखते हैं, वह गच्छ ही वास्तव में गच्छ है।

(६३) हे अप्रमत्त (मुनिवरों) ! साध्वियों के संसर्ग को अग्नि तथा विष के समान वर्जित समझो। जो साधु इनका संसर्ग करता है, वह शीघ्र ही निन्दा को प्राप्त होता है।

(६४-६५) वृद्ध, तपस्वी, बहुश्रुत तथा प्रमाणभूत साधु भी यदि आर्यिका का संसर्ग करता है तो उसकी निन्दा होती है तो फिर यदि युवा, उत्कृष्ट तपस्या नहीं करने वाला और अबहुश्रुत साधु आर्यिका का संसर्ग करेगा तो वह क्यों नहीं लोगों में निन्दा का पात्र बनेगा ? अर्थात् उसकी निन्दा अवश्य होगी।

(६६) यदि साधु स्थिर मन वाला है तो भी आर्यिका का संसर्ग होने पर उसका मन उसी प्रकार पिघल जाता है (विकृत हो जाता है) जिस प्रकार अग्नि के समीप होने पर घृत पिघल जाता है।

(६७) सभी स्त्री-वर्ग के प्रति जो व्यक्ति सदैव सजग रहता है और उनका विश्वास नहीं करता है, वही ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है उससे भिन्न व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता।

(६८) समस्त सांसारिक पदार्थों के प्रति अनासक्त साधु ही पूर्णतः स्वाधीन होता है किन्तु जो आर्यिकाओं के साथ संसर्ग में रहता है, वह निश्चय ही पराधीन होता है।

(६९) जिस प्रकार श्लेष्म में पड़ी हुई मक्खी अपने आपको निकाल पाने में असमर्थ होती है उसी प्रकार आर्यिकाओंके संसर्ग में रहने वाला साधु अपने आपको मुक्त करा पाने में असमर्थ होता है।

(७०) साधु के लिए संसार में आर्यिका के समान और कोई बन्धन नहीं है तथा धर्म में स्थित रहने के लिए ज्ञानी के सदृश अन्य कुछ नहीं है।

वायामित्तेण वि जत्थ भट्ठचरियस्स निग्गहं विहिणा ।
बहुलद्धिजुयस्सा वी कीरइ गुरुणा, तयं गच्छं ॥७१॥

जत्थ य सन्निहि-उक्खड-आहडमाईण नामगहणे वि ।
पूईकम्मा भीया आउत्ता [1]कप्प-तिप्पेसु ॥७२॥

मउए निहुयसहावे हास-दवविवज्जिए विगहमुक्के ।
असमंजसमकरिंते गोयरभूमऽट्ठ [2]विहरंति ॥७३॥

मुणिणं नाणाभिग्गह-दुक्करपच्छित्तमणुचरंताणं ।
जायइ चित्तचमक्कं देविंदाणं पि, तं गच्छं ॥७४॥

पुढवि-दग-अगणि [3]-वाऊ-वणप्फई तह तसाण विविहाणं ।
मरणंते वि न पीडा कीरइ मणसा, तयं गच्छं ॥७५॥

खज्जूरिपत्तमुंजेण जो पमज्जे उवस्सयं ।
नो दया तस्स जीवेसु, सम्मं जाणाहि गोयमा ! ॥७६॥

जत्थ य बाहिर[4]पाणिय[5]बिंदूमित्तं पि गिम्हमाईसु ।
तण्हासोसियपाणा[6] मरणे वि मुणी न गिण्हंति ॥७७॥

इच्छिज्जइ जत्थ सया बीयपएणावि फासुयं उदयं ।
आगमविहिणा निउणं, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥७८॥

जत्थ य सूल विसूइय अन्नयरे वा विचित्तमायंके ।
उप्पन्ने जलणुज्जालणाइ न [7]करेइ, तं गच्छं ॥७९॥

---

१. °प्प-तेप्पे° सं० ॥ २. वियरंति जे० पु० वृ० ॥ ३. °गणि-मारुयवाउ-वणस्सइ-तसाण विविहाणं पु० वृ० । °गणि-मारुय-वणप्फई [तह] तसाण विविहाणं जे० । °गणि-मारुय-वणप्फइ-तसाण विविहजीवाणं सा० ॥ ४. बायर° जे० ॥ ५. °पाणस्स बिंदुमि° सं० ॥ ६. °पाणे सं० ॥ ७. करे मुणी, तयं ग° सं० पु० ॥

(७१) केवल वचन से भी जो चारित्र से च्युत हो गया हो, फिर भले ही वह अनेक लब्धि (विशिष्ट अलौकिक शक्ति) सम्पन्न ही क्यों न हो, ऐसे साधु को भी जहाँ गुरु के द्वारा विधिपूर्वक प्रायश्चित्त दिया जाता हो, वह गच्छ ही वास्तव में गच्छ है।

(७२-७४) जिस गच्छ के साधु संचित, औद्देशिक, छीने हुए, दूषित और अशुद्ध मिश्रित आहार को स्पर्श करने से भी भयभीत होते हों तथा आहार-विहार में उपयोगवान् हों, मृदु हों, विनीत हों, हास-परिहास नहीं करने वाले हों, लड़ाई नहीं करने वाले हों, अनुचित कार्य नहीं करने वाले हों तथा भिक्षा योग्य क्षेत्र में ही विचरण करने वाले हों और विविध प्रकार के अभिग्रह एवं दुष्कर प्रायश्चित्त करने वाले हों, ऐसे साधुओं को देखकर देवेन्द्र भी जहाँ आश्चर्यचकित रह जाते हों, वास्तव में वही गच्छ है।

(७५) मृत्यु के उपस्थित होने पर भी जहाँ पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा अनेक प्रकार के त्रसकायिक जीवों को पीड़ा नहीं पहुँचाई जाती हो, वह गच्छ ही वास्तव में गच्छ है।

(७६) जो साधु खजूर के पत्तों अथवा मुंज (घास-विशेष) के तिनकों से बनी हुई झाडू से उपाश्रय की प्रमार्जना करता है, हे गौतम! यह अच्छी तरह से जान लो कि उस साधु का जीवों के प्रति दया-भाव नहीं है।

(७७-७८) ग्रीष्मादि ऋतु में प्राण बाहर निकल रहे हों अर्थात् मृत्यु समीप हो तो भी जहाँ मुनि बूंद मात्र भी सचित्त जल ग्रहण नहीं करते हों तथा अपवाद मार्ग* में भी सदैव आगम विहित प्रासुक जल ही ग्रहण करते हों, हे गौतम! उस गच्छ को ही वास्तव में गच्छ कहते हैं।

(७९) शूल, विशूचिका तथा अन्य कोई दुःसाध्य रोग उत्पन्न हो जाने पर भी जहाँ साधु अग्निकाय का आरम्भ नहीं करते हों, वह गच्छ ही वास्तव में गच्छ है।

---

* जैन परम्परा में मार्ग दो प्रकार के कहे गये हैं--(१) उत्सर्ग मार्ग और (२) अपवाद मार्ग। प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वत्र 'बीयपएण' का अर्थ द्वितीय पद अर्थात् द्वितीय मार्ग (अपवाद मार्ग) ही ग्रहण किया गया है।

बीयपएणं सालुविगाइ-सद्दाइमाइएहिं च।
कारिती जयणाए, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥८०॥

पुप्फाणं बीयाणं तयमाईणं च विविहदव्वाणं।
संघट्टण परियावण जत्थ न कुज्जा, तयं गच्छं ॥८१॥

[1]हासं खेड्डा कंदप्पं नाहियवायं न कीरए जत्थ।
धावण-डेवण-लंघण-ममकाराऽवण्णउच्चरणं ॥८२॥

जत्थित्थीकरफरिसं अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने।
दिट्ठीविस-दित्तग्गी-विसं व वज्जिज्जए गच्छे ॥८३॥

बालाए वुड्ढाए नत्तुय दुहियाए अहव भइणीए।
न य कीरइ तणुफरिसं, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥८४॥

जत्थित्थीकरफरिसं लिंगी अरिहा वि सयमवि करेज्जा।
तं निच्छयओ गोयम ! जाणेज्जा मूलगुणभट्ठं ॥८५॥

कीरइ बीयपएणं सुत्तमभणियं न जत्थ विहिणा उ।
उप्पन्ने पुण कज्जे दिक्खाआयंकमाईए ॥८६॥

मूलगुणेहि विमुक्कं बहुगुणकलियं पि लद्धिसंपण्णं।
उत्तमकुले वि जायं निद्धाडिज्जइ, तयं गच्छं ॥८७॥

जत्थ हिरण्ण-सुवण्णे धण-धण्णे कंस-तंब-फलिहाणं।
सयणाण आसणाण य झुसिराणं चेव परिभोगो ॥८८॥
जत्थ य वारडियाणं तत्तडियाणं च तह य परिभोगो।
मोत्तुं सुक्किलवत्थं, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ॥८९॥

---

१. जइ हास खेड्ड कंदप्प नाहवायं सं० ॥

(८०) जहाँ अपवाद मार्ग मे भी साधर्मिक अथवा सद्गृहस्थ से भी यतनापूर्वक (सावधानीपूर्वक) कार्य करवाये जाते हों, हे गौतम ! उस गच्छ को ही वास्तव में गच्छ कहते हैं।

(८१) जहाँ साधु पुष्प, बीज, तृण आदि विविध (सचित्त) द्रव्यों का न तो स्पर्श करते हों और न ही उन्हें पीड़ा पहुँचाते हों, वास्तव में वही गच्छ है।

(८२-८३) जहाँ साधु हँसी-मजाक, कामवर्धक वचन अथवा नास्तिक वचन नहीं बोलते हों, इधर-उधर दौड़ते नहीं हों, वेग से कूदते नहीं हों एवं किसी वस्तु को लाँघते नहीं हो और विशेष कारण उत्पन्न होने पर भी स्त्री के हाथ का स्पर्श करना भी दृष्टिविष सर्प, प्रज्वलित अग्नि एवं हलाहल विष की तरह वर्जित मानते हों, वह गच्छ ही वास्तव में गच्छ है।

(८४) जहाँ साधु द्वारा बालिका, वृद्धा, पौत्री, दौहित्री, पुत्री एवं बहिन का भी स्पर्श नहीं किया जाता हो, हे गौतम ! उस गच्छ को ही वास्तव में गच्छ कहते हैं।

(८५) जहाँ साधु वेशधारी आचार्य स्वयं ही स्त्री के हाथ का स्पर्श करते हों तो हे गौतम ! ऐसे गच्छ को निश्चय ही मूलगुणों से भ्रष्ट जानो।

(८६-८७) जहाँ दीक्षा आदि के अवसर पर अथवा मारणान्तिक कष्ट आदि परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर भी आगम अनुल्लिखित अपवादमार्ग का सेवन नहीं किया जाता हो तथा अनेक गुणों से युक्त, लब्धि-सम्पन्न और उत्तम कुल में उत्पन्न साधु को भी मूलगुणों से भ्रष्ट हो जाने पर जिस गच्छ से निकाल दिया जाता हो, वास्तव में वही गच्छ है।

(८८-८९) जहाँ साधु स्वर्ण-रजत, धन-धान्य, काँसा, ताँबा एवं स्फटिक अथवा छिद्रों वाली शय्या-- आसन्दी (कुर्सी) आदि का परिभोग करते हों तथा श्वेत वस्त्रों को छोड़कर गेरुएँ अथवा रंगीन वस्त्र धारण करते हों तो उस गच्छ में क्या मर्यादा रह जाती है ? अर्थात् वह गच्छ मर्यादाहीन है।

जत्थ हिरण्ण-सुवण्णं हत्थेण पराणगं पि नो छिप्पे ।
कारणसमप्पियं पि हु निमिस-खणद्धं पि, तं गच्छं ॥९०॥

जत्थ य अज्जालद्धं पडिगहमाई वि विविहमुवगरणं ।
परिभुज्जइ साहूहिं, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥९१॥

अइदुल्लहभेसज्जं बल-बुद्धिविवड्ढणं पि पुट्ठिकरं ।
अज्जालद्धं भुंजइ, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ॥९२॥

एगो एगित्थिए सद्धिं जत्थ चिट्ठिज्ज गोयमा ! ।
संजईए विसेसेणं निम्मेरं तं तु भासिमो ॥९३॥

दढचारित्तं मुत्तं आइज्जं मयहरं च गुणरासिं ।
एक्को अज्झावेई, तमणायारं, न तं गच्छं ॥९४॥

घणगज्जिय[1]-हयकुहियं-विज्जूदुग्गेज्झगूढहिययाओ ।
अज्जा अवारियाओ, इत्थीरज्जं, न तं गच्छं ॥९५॥

जत्थ समुद्देसकाले साहूणं मंडलीए अज्जाओ ।
गोयम ! ठवेंति पाए, इत्थीरज्जं, न तं गच्छं ॥९६॥

जत्थ मुणीण कसाए जगडिज्जंता वि परकसाएहिं ।
निच्छंति समुट्ठेउं सुनिविट्ठो पंगुलो चेव ॥९७॥

धम्मंतरायभीए भीए संसारगब्भवसहीणं ।
न उईरंति कसाए मुणी मुणीणं, तयं गच्छं ॥९८॥

---

१. °य-कुहुय-विज्जू गोयमा ! संजईए वि दुग्गिज्झ' जे० ॥

(९०) जहाँ साधु कारण उपस्थित होने पर भी दूसरों के स्वर्ण-रजत आदि का क्षण भर के लिए भी हाथ से स्पर्श नहीं करते हों, वह गच्छ ही वास्तव में गच्छ है।

(९१) जहाँ कारण उपस्थित होने पर भी साध्वियों के द्वारा लाए हुए पात्र आदि विविध उपकरणों का साधुओं के द्वारा उपभोग किया जाता हो, हे गौतम! वह कैसा गच्छ है? अर्थात् वह गच्छ मर्यादाहीन है।

(९२) जहाँ साध्वियों के द्वारा लाई हुई शारीरिक बल एवं बुद्धि को बढ़ाने वाली, पुष्टिकर एवं अति दुर्लभ औषधियों का सेवन किया जाता हो तो उस गच्छ में क्या मर्यादा है? अर्थात् वह गच्छ मर्यादाहीन है।

(९३) जहाँ अकेला साधु अकेली स्त्री या विशेष रूप से अकेली साध्वी के साथ बैठता हो, हे गौतम! उस गच्छ को मर्यादाहीन कहना चाहिए।

(९४) दृढ़ चारित्र वाला, अनासक्त, निराभिमानी आदि विविध गुणों वाला अकेला साधु भी यदि अकेली स्त्री या साध्वी को पढ़ाता है तो यह अनाचार है, ऐसा गच्छ वस्तुतः गच्छ नहीं है।

(९५) जहाँ बादल के समान गर्जन करने वाली, अश्व के समान हिन-हिनाने वाली, विद्युत के समान दुर्ग्राह्य और कपटपूर्ण हृदय वाली साध्वी पर अंकुश नहीं रखा जाता हो, वह गच्छ गच्छ नहीं, अपितु स्त्री-राज्य है

(९६) जहाँ भोजन के समय साधुओं की मण्डली में आर्यिका अपने कदम रखती हो, हे गौतम! वस्तुतः वह गच्छ नहीं, अपितु स्त्री-राज्य है।

(९७) जहाँ दूसरों के कषायों के निमित्त से मुनि-गण के कषाय भाव उसी प्रकार जागृत नहीं होते हैं, जैसे कि अच्छी प्रकार से बैठा हुआ पंगु उठने की इच्छा नहीं करता है, वास्तव में वही गच्छ है।

(९८ जहाँ धर्म साधना में विघ्न पड़ने के भय से अथवा संसार परि-भ्रमण के भय से साधु दूसरे साधुओं के कषायों को जागृत नहीं करते हैं, वह गच्छ ही वास्तव में गच्छ है।

कारणमकारणेणं अह् कह् वि मुणीण उट्ठहिं कसाए ।
उदिए वि जत्थ रुभहिं खामिज्जहिं जत्थ, तं गच्छं ॥९९॥

सील-तव-दाण-भावणचउविहधम्मंतरायभयभीए ।
जत्थ बहू गीयत्थे, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥१००॥

जत्थ य गोयम ! पंचण्ह कह वि सूणाण एक्कमवि होज्जा ।
तं गच्छं तिविहेणं वोसिरिय वएज्ज अन्नत्थ ॥१०१॥

सूणारंभपवत्तं गच्छं वेसुज्जलं न[1] सेविज्जा ।
जं चारित्तगुणेहिं तु उज्जलं तं तु सेविज्जा ॥१०२॥

जत्थ य मुणिणो कय-विक्कयाइं कुव्वंति संजमुब्भट्ठा ।
तं गच्छं गुणसायर ! विसं व दूरं[2] परिहरिज्जा ॥१०३॥

आरंभेसु पसत्ता सिद्धंतपरम्मुहा विसयगिद्धा ।
मोत्तुं मुणिणो गोयम ! वसेज्ज मज्झे सुविहियाणं ॥१०४॥

तम्हा सम्मं निहालेउं गच्छं सम्मग्गपट्ठियं ।
वसेज्जा पक्ख मासं वा जावज्जीवं तु गोयमा ! ॥१०५॥

खुड्डो[3] वुड्ढो तहा सेहो जत्थ रक्खे उवस्सयं ।
तरुणो वा जत्थ एगागी, का मेरा तत्थ भासिमो ? ॥१०६॥

---

१. न वासिज्जा जे० सं० पु० ॥ २. दूरे जे० ॥ ३. खुड्डो वा अहवा सेहो पु० बृ० ॥

(९९) कारणवश या अकारण ही किसी भी तरह से कषाय उदित होने पर जहाँ उनके उदय को रोक दिया जाता हो और उसके लिये क्षमायाचना की जाती हो, वही गच्छ वस्तुतः गच्छ है।

(१००) जिस गच्छ में शील, तप, दान और भावना रूप चार प्रकार की धर्म साधना में आने वाले विघ्नों (अन्तरायों) के भय से भयभीत बहुत से गीतार्थ मुनि हों, हे गौतम! उसी गच्छ को गच्छ कहा जाता है।

(१०१) हे गौतम! जहाँ मुनि पाँच प्रकार के वध-स्थानों अर्थात् ऊखल, चक्की, चूल्हा, पनघट आदि में से किसी एक का भी सेवन करते हों तो उस गच्छ का त्रिविध रूप से अर्थात् मन, वचन और काया से त्यागकर अन्य (सद्गुणी) गच्छ में चले जाना चाहिए।

(१०२) जहाँ मुनि श्वेत वस्त्र धारण करके भी हिंसक प्रवृत्ति (आरम्भ-समारम्भ) में लगे रहते हों, उस गच्छ में नहीं रहना चाहिए किन्तु जहाँ मुनि उज्ज्वल चारित्रिक गुणों से सम्पन्न हों, उसी गच्छ में रहना चाहिए।

(१०३) जहाँ साधु क्रय-विक्रय आदि क्रियाएं करते हों एवं संयम से भ्रष्ट हो चुके हों, हे गुणों के सागर गौतम! उस गच्छ का विष की तरह दूर से ही परित्याग कर देना चाहिए।

(१०४) हे गौतम! आरम्भ-समारम्भ में प्रसक्त, जिन-वचन के विपरीत कार्य करने वाले तथा काम-भोगों में गृद्ध साधुओं को त्यागकर सदाचारी साधुओं के मध्य में ही रहना चाहिए।

(१०५) इसलिये हे गौतम! सन्मार्ग में प्रस्थित गच्छ का सम्यक् प्रकार से निरीक्षण कर उसमें पक्ष, मास अथवा जीवनपर्यन्त रहना चाहिए।

(१०६) जहाँ छोटा, वृद्ध अथवा नवदीक्षित साधु (शैक्ष्य) उपाश्रय का रक्षक बना हुआ हो अथवा जहाँ जवान साधु अकेला रहता हो, उस गच्छ की मर्यादा का क्या कहें? अर्थात् वह गच्छ मर्यादाहीन है।

[गा. १०७—१३४. अज्जासरूववण्णणाहिगारो]

जत्थ य एगा खुड्डी एगा तरुणी उ रक्खए वसहिं ।
गोयम ! तत्थ विहारे का सुद्धी बंभचेरस्स ? ॥१०७॥

जत्थ य उवस्सयाओ बाहिं[1] गच्छे दुहत्थमेत्तं पि ।
एगा रत्तिं समणी, का मेरा तत्थ गच्छस्स ? ॥१०८॥

जत्थ य एगा समणी एगो समणो य जंपए [2]सोम ! ।
नियबंधुणा वि सद्धिं, तं गच्छं गच्छगुणहीणं ॥१०९॥

जत्थ जयार-मयारं समणी जंपइ गिहत्थपच्चक्खं ।
पच्चक्खं संसारे अज्जा पक्खिवइ अप्पाणं ॥११०॥

जत्थ य गिहत्थभासाहिं[3] भासए अज्जिया सुरुट्ठा वि ।
तं गच्छं गुणसायर ! समणगुणविवज्जियं जाण ॥१११॥

गणिगोयम ! जा उचियं सेयं वत्थं विवज्जिउं ।
सेवए चित्तरूवाणि, न सा अज्जा वियाहिया ॥११२॥

सीवणं तुन्नणं भरणं गिहत्थाणं तु जा करे ।
तिल्लउव्वट्टणं वा वि अप्पणो य परस्स य ॥११३॥

गच्छइ सविलासगई सयणीयं तूलियं सबिब्बोयं ।
उव्वट्टेइ सरीरं सिणाणमाईणि जा कुणइ ॥११४॥

गेहेसु गिहत्थाणं गंतूण कहा कहेइ काहीया ।
तरुणाइ अहिवडंते [4]अणुजाणे, सा इ पडिणीया ॥११५॥

---

१. राइं ग° सा० ॥ २. सोम्म ! सा० पु० ॥ ३. °भासाइ भा° सा० पु० ॥
४. °जाणे जा उ सा पडणी° सा० पु० ॥

(१०७-१३४ साध्वी स्वरूप वर्णन अधिकार)

(१०७) जहाँ क्षुल्लिका अथवा तरुण साध्वी उपाश्रय में अकेली रहती हो, हे गौतम ! उस विहार (उपाश्रय) में ब्रह्मचर्य की शुद्धि की क्या अपेक्षा की जा सकती है ?

(१०८) जहाँ रात्रि के समय में अकेली साध्वी दो हाथ भी उपाश्रय से बाहर जाती हो, उस गच्छ की क्या मर्यादा है ? अर्थात् वह गच्छ मर्यादाहीन है।

(१०९) जहाँ अकेली साध्वी अकेले साधु से, चाहे वह उसका सगा भाई ही क्यों न हो, अकेले में वार्तालाप करती हो तो हे सौम्य गौतम ! वह गच्छ गच्छ के गुणों से रहित है।

(११०) यदि साध्वी गृहस्थ के समक्ष जकार-मकार आदि अश्लील वचन बोलती है तो वह साध्वी अपनी आत्मा को चतुर्गति संसार-समुद्र में अवश्य गिरा देती है।

(१११) जहाँ साध्वी अति रुष्ट होकर गृहस्थ की भाषा अर्थात् सावद्य भाषा बोलती हो, हे गुणों के सागर गौतम ! उस गच्छ को साधुता के गुणों से रहित जानो।

(११२) हे गणि गौतम ! जो साध्वी उचित श्वेत वस्त्रों को त्यागकर विविध प्रकार के रंगीन वस्त्रों को धारण करती हो, वह वास्तव में साध्वी नहीं कही जा सकती है।

(११३-११५) जो साध्वी गृहस्थों के फटे हुए वस्त्रों को सीती हो, उनके वस्त्रों में बेल-बूटा आदि करती हो, उनमें रूई आदि भरती हो, अपने शरीर पर अथवा दूसरों के शरीर पर तैल-मर्दन करती हो, विलासयुक्त गति से चलती हो, रूई से भरे हुए गद्दे पर शयन करती हो, स्नान आदि के द्वारा अपने शरीर को शृंगारित करती हो, गृहस्थों के घरों में जाकर कथा कहती हो तथा युवा पुरुषों को बार-बार आने के लिए आमन्त्रित करती हो, वह साध्वी जिनशासन की मर्यादा के विपरीत आचरण करने वाली है।

वुड्ढाणं तरुणाणं रत्तिं अज्जा कहेइ जा धम्मं ।
सा गणिणी गुणसायर ! पडणीया होइ गच्छस्स ॥११६॥

जत्थ य समणीणमसंखडाइं गच्छम्मि नेव जायंति ।
तं गच्छं गच्छवरं, गिहत्थभासाओ नो जत्थ ॥११७॥

जो जत्तो वा जाओ नाऽऽलोयइ दिवस पक्खियं वा वि ।
सच्छंदा[1] समणीओ मयहरियाए न ठायंति ॥११८॥

विंटलियाणि पउंजंति, गिलाण-सेहीण नेय[2] तप्पंति ।
अणगाढे आगाढं करेंति, आगाढि अणगाढं ॥११९॥

अजयणाए पकुव्वंति पाहुणगाण अवच्छला ।
चित्तलयाणि य सेवंति, चित्ता रयहरणे तहा ॥१२०॥

गइ-विब्भमाइएहिं आगारविगार तह पगासिंति ।
जह[3] वुड्ढाण वि मोहो समुईरइ, किं नु तरुणाणं ? ॥१२१॥

बहुसो उच्छोलिंती मुह-नयणे हत्थ-पाय-कक्खाओ ।
गिण्हेइ[4] रागमंडल सोइंदिय तह य [5]कव्वट्ठे ॥१२२॥

जत्थ य थेरी तरुणी थेरी तरुणी य अंतरे सुयइ ।
गोयम ! तं गच्छवरं वरनाण-चरित्तआहारं ॥१२३॥

धोइंति कंठियाओ पोइंति य तह य दिंति पोत्ताणि ।
गिहकज्जचिंतगीओ, न हु अज्जा गोयमा ! ताओ ॥१२४॥

---

१. °दाउ व सवणे मय° सं० ॥ २. नेव तिप्पंति सा० ॥ ३. जह कामडगाण मोहो सं० । जह कज्ज(प्प)ट्ठगाण मोहो जे० पु० ॥ ४. गिन्हइ रामण मंडण भोइंति य तह सं० ॥ ५. कप्पट्ठे पु० । कप्पस्स सं० ॥

(११६) हे गुणों के सागर गौतम ! यदि साध्वी प्रमुखा भी रात्रि के समय वृद्धों तथा युवाओं को धर्मकथा कहती है तो वह साध्वी गच्छ की मर्यादा के विपरीत आचरण करने वाली है।

(११७) जहाँ साध्वियों में परस्पर कलह नहीं होता हो, गृहस्थों जैसी भाषा नहीं बोली जाती हो, उसी गच्छ को श्रेष्ठ गच्छ कहते हैं।

(११८-१२२) स्वच्छन्दाचारी साध्वियाँ जहाँ और जैसे लगे हुए अतिचारों की दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक अथवा सांवत्सरिक आलोचना नहीं करती हैं, वे अपनी साध्वी प्रमुखा की आज्ञा में नहीं रहती हैं, वशीकरण विद्या एवं निमित्त आदि का प्रयोग करती हैं, बीमार एवं नवदीक्षित साध्वियों की सेवा नहीं करती हैं, स्वाध्याय, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण इत्यादि करने योग्य कार्य नहीं करती हैं और जो नहीं करने योग्य कार्य हैं उन्हें वे करती हैं, प्रत्येक क्रिया यतनापूर्वक नहीं करती हैं, अतिथि साध्वियों से स्नेह नहीं रखती हैं, रंगीन वस्त्र पहनती हैं, विचित्र प्रकार के रजोहरण रखती हैं, अपनी गति तथा हावभाव इस प्रकार प्रकट करती हैं जिससे वृद्धों के मन में भी विकार उत्पन्न हो जाते हों तो फिर युवाओं का तो कहना ही क्या ? अर्थात् जो पुरुषों के मन में विकार उत्पन्न करती हों, अपने मुँह, हाथ-पाँव तथा काँखों को बार बार धोती हों, नानाप्रकार से राग-रागिनियों में रस लेती हों, अपना मन बहलाने के लिए छोटे बच्चों को भोजन कराती हों, ऐसा गच्छ निन्दनीय है।

(१२३) जहाँ वृद्धा साध्वी फिर युवा साध्वी, फिर वृद्धा साध्वी और उसके पश्चात् फिर युवा साध्वी इस क्रम से साध्वियाँ सोती हों, हे गौतम ! वह गच्छ ही श्रेष्ठ गच्छ है और ऐसा गच्छ सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का आधार होता है।

(१२४) जो साध्वियाँ कंठ आदि अंगों को धोती हों, (गृहस्थों के लिए) मोतियों की माला पिरोती हों, गृहस्थों को वस्त्र देती हों तथा गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों में चिन्तित रहती हों, हे गौतम ! वास्तव में वे साध्वियाँ नहीं हैं।

[1]खर-घोडाइट्ठाणे वयंति, ते वा वि तत्थ वच्चंति ।
वेसत्थीसंसग्गी उवस्सयाओ समीवम्मि ॥१२५॥

[2]छक्कायमुक्कजोगा, धम्मकहा विगह पेसण गिहीणं ।
गिहिनिस्सेज्जं वाहिंति संथवं तह करंतीओ ॥१२६॥

समा सीस-पडिच्छीणं चोयणासु अणालसा ।
गणिणी गुणसंपण्णा [3]पसत्थपरिसाणुगा ॥१२७॥

संविग्गा भीयपरिसा य उग्गदंडा य कारणे ।
सज्झाय-ज्झाणजुत्ता य संगहे य विसारया ॥१२८॥

जत्थुत्तर-पडिउत्तरवडिया अज्जाओ साहुणा सद्धिं ।
पलवंति सुरुट्ठा वी, गोयम ! किं तेण गच्छेण ? ॥१२९॥

जत्थ य गच्छे गोयम ! उप्पण्णे कारणम्मि अज्जाओ ।
गणिणीपिट्ठिठियाओ भासंती मउयसद्देणं ॥१३०॥

माऊए दुहियाए सुण्हाए अहव [4]भइणिमाईणं ।
जत्थ न अज्जा अक्खइ गुत्तिविभेयं, तयं गच्छं ॥१३१॥

---

१. थल्लवो° सं० जे० पु० ॥ २. सज्झायमु° सं० पु० सा० ॥ ३. °त्थपुरि° सं० पु० सा० ॥ ४. भयणि° जे० ॥

(१२५) जहाँ घोड़े-गधे आदि पशु रहते हों अथवा जहाँ वे मल-मूत्र का विसर्जन करते हों तथा जिस उपाश्रय के समीप वेश्या के संसर्ग के आकांक्षी पुरुषों का आवागमन होता हो, वहाँ रहने वाली साध्वी वास्तव में साध्वी नहीं है।

(१२६) जो साध्वियाँ षट्जीवनिकाय की हिंसा के प्रति उत्सुक रहती हों, धर्मकथा के स्थान पर विकथा कहती हों, गृहस्थों को आदेशित करती हों, गृहस्थों के पलंग, शय्यादि का उपभोग करती हों, उनसे अति परिचय रखती हों, हे गौतम ! वास्तव में वे साध्वियाँ नहीं हैं।

(१२७–१२८) अपनी शिष्याओं तथा प्रतिच्छिकाओं अर्थात् अध्ययन आदि के लिए उसके सान्निध्य में रहने वाली अन्य साध्वियों की शिष्याओं के प्रति समभाव रखने वाली, प्रेरणा देने में आलस्य नहीं करने वाली, गणिणी के गुणों से सम्पन्न, सत्पुरुषों का अनुसरण करने वाली, कारण उपस्थित होने पर कठोर दण्ड देने वाली, स्वाध्याय और ध्यान से युक्त रहने वाली, नवदीक्षिताओं और अन्य साध्वियों को आश्रय देने वाली तथा उनके लिए वस्त्र-पात्र आदि संयमोपकरणों का संग्रह करने में कुशल साध्वी गणिणी (साध्वी प्रमुखा) बनने योग्य है।

(१२९) जहाँ साध्वियाँ साधु के साथ वाद-विवाद करती हों तथा अत्यन्त आवेश में आकर बकवास करती हों, हे गौतम ! उस गच्छ से क्या लाभ ? अर्थात् उस गच्छ में रहने से कोई लाभ नहीं है।

(१३०) जहाँ कारण उत्पन्न होने पर भी साध्वियाँ साध्वी प्रमुखा (गणिणी) के पीछे रहकर ही गीतार्थ साधु से मृदु शब्दों के द्वारा बोलती हों, हे गौतम ! वास्तव में वही गच्छ है।

(१३१) जहाँ साध्वियाँ यह मेरी माता है, यह मेरी पुत्री है, यह मेरी पुत्रवधू है अथवा मैं इसकी बहिन हूँ, मैं इसकी माता हूँ– ऐसा वचन–व्यवहार नहीं करती हों, वास्तव में वही गच्छ है।

दंसणइयार कुणई, चरित्तनासं, जणेइ मिच्छत्तं ।
दोण्हं वि वग्गाणऽज्जा विहारभेयं करेमाणी[1] ।।१३२।।

तम्मूलं संसारं जणेइ अज्जा वि गोयमा ! नूणं ।
तम्हा धम्मुवएसं मोत्तुं अन्नं न भासिज्जा ।।१३३।।

मासे मासे उ जा अज्जा एगसित्थेण पारए ।
कलहइ गिहत्थभासाहिं, सव्वं तीए निरत्थयं ।।१३४।।

(गा. १३५-१३७. गंथसमत्ती)

महानिसीह-कप्पाओ ववहाराओ तहेव य ।
साहु-साहुणिअट्ठाए गच्छायारं समुद्धियं ।।१३५।।

पढंतु साहुणो एयं असज्झायं विवज्जिउं ।
उत्तमं सुयनिस्संदं गच्छायारं सुउत्तमं ।।१३६।।

गच्छायारं सुणित्ताणं पढित्ता भिक्खु भिक्खुणी ।
[2]कुणंतु जं जहा भणियं इच्छंता हियमप्पणो ।।१३७।।

।। [3]गच्छायारं सम्मत्तं ।।

---

१. करेमाणी जे० ।। २. जाणंतु जे० ।। ३. इति गच्छायारपइन्नं जे० । गच्छायारपइण्णयं सम्मत्तं सा० ।।

(१३२) जो साध्वी दर्शन में अतिचार लगाती हो, चारित्र भंग करती हो, मिथ्यात्व को बढ़ाती हो तथा जो दोनों पक्षों अर्थात् अपनी एवं साधु वर्ग की आचार-मर्यादा का उल्लंघन करती हो, वास्तव में वह साध्वी नहीं है।

(१३३) हे गौतम ! साध्वियाँ संसार वृद्धि का कारण बन सकती हैं, इसलिए साध्वियों से धर्मोपदेश को छोड़कर अन्य बात नहीं करनी चाहिए।

(१३४) जो साध्वियाँ एक-एक मास की तपस्या करके पारणे में भी मात्र एक ग्रास ही ग्रहण करती हों, किन्तु यदि वे गृहस्थों की भाषा द्वारा अर्थात् सावद्य वचनों से कलह कराती हों तो उनकी तपस्या निरर्थक हो जाती है।

(१३५–१३७ ग्रन्थ समाप्त)

(१३५–१३६) महानिशीथ, कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र और इसी तरह के अन्य ग्रन्थों से साधु-साध्वियों के लिए यह 'गच्छाचार' (प्रकीर्णक) नामक ग्रन्थ समुद्धृत किया गया है। अतः साधु-साध्वियाँ उत्तम श्रुत के सार रूप इस अति उत्तम गच्छाचार (प्रकीर्णक) को अस्वाध्याय काल छोड़कर पढ़ें।

(१३७) अपनी आत्मा का कल्याण चाहने वाले साधु-साध्वियाँ इस 'गच्छाचार प्रकीर्णक' को सुनकर अथवा पढ़कर इसमें जैसा कहा गया है, वैसा ही करें।

[गच्छाचार प्रकीर्णक समाप्त]

परिशिष्ट

गच्छाचार-प्रकीर्णक की गाथानुक्रमणिका

गाथा	क्रमांक
अ	
अइदुल्लहभेसज्जं	९२
अगीयत्थ-कुसीलेहिं	४८
अगीयत्थस्स वयणेणं	४६
अजयणाए पकुव्वंति	१२०
अत्थेगे गोयमा ! पाणी	२
अप्परिसावी सम्मं	२२
आरंभेसु पसत्ता	१०४
इ	
इच्छिज्जइ जत्थ सया	७८
उ	
उज्जमं सव्वथामेसु	५
उम्मग्गठिए	२९
उम्मग्गठिओ	३०
उम्मग्गसंपट्ठियाण	३१
ए	
एगो एगित्थीए सद्धिं	९३
ओ	
ओसन्नो वि विहारे	३४
क	
कारणमकारणेणं अह	९९
किं पुण तरुणो अबहुस्सुओ	६५
कीरइ बीयपएणं	८६
कुल गाम नगर रज्जं	२४
ख	
खज्जूरिपत्तमुंजेण	७६
खर-घोडाइट्ठाणे	१२५
खर-फरूस-कक्कसाए	५४
खंते दंते गुत्ते	५३
खुड्डो वुड्ढो तहा सेहो	१०६
खेलपडियमप्पाणं न तरइ	६९
ग	
गइ-विब्भमाइएहिं	१२१
गच्छइ सविलासगई	११४
गच्छायारं सुणित्ताणं	१३७
गच्छो महाणुभावो	५१
गणिगोयम ! जा उचियं	११२
गीयत्थस्स वयणेणं	४४
गीयत्थे जे सुसंविग्गे	४१
गुरुणा कज्जमकज्जे	५६
गुरुणो छंदणुवित्ती	५२
गेहेसु गिहत्थाणं	११५
घ	
घणगज्जिय-हयकुहियं-विज्जु०	९५
छ	
छक्कायमुक्क जोगा	१२६
छत्तीसगुणसमन्नागएण	१२

गाथा	क्रमांक
ज	
जइ वि न सक्कं काउं	३३
जइ वि सयं थिरचित्तो	९६
जत्थ जयार-मयारं	११०
जत्थ मुणीण कसाए	९७
जत्थ य अज्जाकप्पं	६१
जत्थ य अज्जालद्धं	९१
जत्थ य अज्जाहिं समं	६२
जत्थ य उवस्सयाओ	१०८
जत्थ य एगा खुड्डी	१०७
जत्थ य एगा समणी	१०९
जत्थ य गच्छे गोयम !	१३०
जत्थ य गिहत्थ भासाहिं	१११
जत्थ य गोयम ! पंचण्ह	१०१
जत्थ य जेट्ठ-कणिट्ठो	६०
जत्थ य थेरी तरुणी	१२३
जत्थ य बाहिरपाणिय०	७७
जत्थ य मुणिणो	१०३
जत्थ य वारडियाणं	८९
जत्थ य सन्निहि०	७२
जत्थ य समणीणमसंखडाइं	११७
जत्थ य मूल विसुद्धय	७९
जत्थ समुद्देसकाले	९६
जत्थ हिरण्ण-सुवण्णं हत्थेण	९०
जत्थ हिरण्ण-सुवण्णे	८८
जत्थित्थीकरफरिसं अंतरियं	८३
जत्थित्थीकरफरिसं लिंगी	८५
जत्थुत्तर-पडिउत्तरवडिया	१२९
जह सुकुसलो वि वेज्जो	१३
जामद्धं जाम दिण पक्खं	२
जीहाए विलिहंतो	१७
जे अणहिगयपरमत्थे	४३
जे य न अकित्तिजणए	५५
जो उ प्पमायदोसेणं	३९
जो जत्तो वा जाओ	११८
त	
तम्मूलं संसारं जणेइ	१३३
तम्हा निउण निहालेउं	७
तम्हा सम्मं निहालेउं	१०५
तं पि न रूव-रसत्थं	५८
तित्थयरसमो सूरी सम्मं	२७
तीयाणागकाले केई	३७
तुम्हारिसा वि मुणिवर !	१९
थ	
थेरस्स तवस्सिस्स	६४
द	
दढचारित्तं मुत्तं	९४
दंसणइयार कुणई	१३२
दुरुज्झिय पत्ताइसु	५७
देसं खेत्तं तु जाणित्ता	१४
ध	
धम्मंतरायभीए भीए	९८
धीइंति कंठियाओ	१२४
न	
नमिऊण महावीरं	१
नाणम्मि दंसणम्मि	२०
निट्ठवियअट्ठमयठाणे	४२

गाथा	क्रमांक
प	
पज्जलंति जत्थ धगधग०	५०
पज्जलिय हुयवहं	४९
परंतु साहुणो एवं	१३६
परमत्थओ न तं अमयं	४७
परमत्थओ विसं णो तं	४८
पिंडं उवहिं सेज्जं	२१
पुढवि-दग-अगणि०	७५
पुप्फाणं बीयाणं	८१
ब	
बहुसो उच्छोलिंती	१२२
बालाए वुड्ढाए नत्तुय	५८
बालाणं जो उ सीसाणं	१६
बीयपएणं सारुविगाइ०	८०
भ	
भद्दयारो सूरी	२८
भयवं ! केहिं लिंगेहिं	९
भूए अत्थि भविस्संति	३६
म	
मउए निहुयसहावे	७३
महानिसीह-कप्पाओ	१३५
माऊए दुहियाए	१३१
मासे मासे उ जा अज्जा	१३४
मुणिणं नाणाभिग्गह०	७४
मूलगुणेहिं विमुक्कं	८७
मूलुत्तरगुणभट्ठं	११
मेढी आलंबणं खंभं	८
ल	
लीलाअलसमाणस्स	४

गाथा	क्रमांक
व	
वज्जेह अप्पमत्ता	६३
[illegible] वि जत्थ	७१
विदलियाणि पढंजंति	११९
विहिणा जो उ चोएइ	२५
वीरिएणं तु जीवस्स	६
वुड्ढाणं तरुणाणं रत्तिं	११६
वेयण वेयावच्चे	५९
स	
सच्छंदयारिं दुस्सीलं	१०
सरइ भवंति अणवेक्खयाइ	३८
स एव भव्वसत्ताणं	२६
समा सीस-पडिच्छीणं	१२७
सम्मग्गमग्गसंपट्ठियाण	३५
सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि	६७
सव्वत्थेसु विमुत्तो साहू	६८
संखेवेणं मए सोम्म !	४०
संगहोवग्गहं विहिणा	१५
संविग्गा भीयपरिसा	१२८
साहुस्स नत्थि लोए	७०
सीयावेइ विहारं	२३
सील-तव-दाण-भावण०	१००
सीवणं तुन्नणं भरणं	११३
सीसा वि वेरिओ	१८
सुद्धं सुसाहुमग्गं	३४
सूणारंभपवत्तं गच्छं	१०२
ह	
हासं खेड्डा कंदप्पं	८२